राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार

दत्तोपंत ठेंगड़ी

डॉ. ... क्रमांक

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार

किसी ने ऐसा कहा है कि रोग का सही निदान होना ही रोग का आधा ठीक होना है। अतः हमारे समक्ष जो विभिन्न समस्याएं हैं, पहले उनका निदान कर लिया जाए। इसके बाद इन समस्याओं को हल करने के लिए उपाय-योजना का विचार किया जा सकता है।

आज हमारे सामने अनेक समस्याएं हैं। मुख्य समस्या यह है कि हम अपने राष्ट्र का पुनर्निर्माण कैसे करें? आज अपना राष्ट्र जिस स्थिति में है, वहां से उसे अच्छी अवस्था तक हमें पहुंचाना है। हमें प्रगति करना है। इसके लिए लोगों ने अलग-अलग मार्ग सुझाये हैं। उसके अलग-अलग नामों का प्रयोग किया है। कोई प्रोग्रेसिविज्म (प्रगतिवाद) के मार्ग का सुझाव देते हैं। कुछ रेडिकलिज्म (मौलिकतावाद) के मार्ग पर चलने के हामी हैं। कुछ लोग स्वयं को क्रान्तिकारी कहते हैं। इनमें से किसी भी शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जिसको जो शब्द पसन्द है, वह उसी शब्द का प्रयोग करता है। किन्तु सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमें अपने राष्ट्र का निर्माण करना है। खंडित भारत के ही क्यों न हों, हमें अपना भाग्य-विधाता स्वयं बनना है। अतः अब हम विचार करें कि हमें किस दिशा में जाना है?

मन में सर्वप्रथम यह विचार आता है कि क्या हमारे समक्ष किसी ऐसे देश का माडल-चित्र है कि जिस देश के वासियों ने अपने राष्ट्र का निर्माण किया है, जिसके लोग सुखी और समृद्ध हो गये हैं। यदि हमारे सामने ऐसा कई माडल हो तो बहुत अच्छा होगा। इस दृष्टि से हम भिन्न-भिन्न माडलों का विचार करें। आज की दुनिया के बड़े, समृद्ध और अग्रसर राष्ट्रों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं। इसमें अमेरिका तथा रूस का नाम आता है। आजकल चीन का नाम भी इसी श्रेणी में आने लगा है। ऐसे कुछ देशों

के उदाहरण हमारे सामने हैं। यदि एक बार हमें ऐसा पता चल जाय कि अमुक देश की नकल करने से हमारा कल्याण होगा, तो फिर हमारी उलझन या समस्या सुलझ सकती है।

अमेरिका का संकट

क्या इनमें से कोई राष्ट्र ऐसा है जो सुख की प्राप्ति कर चुका है या कर रहा है? इसका विचार करने पर हमारे सामने विचित्र बातें आती हैं। इनमें सबसे धनी राष्ट्र अमेरिका है। इस दृष्टि से सबसे सुखी राष्ट्र भी वही होना चाहिए। किन्तु वहां जितनी आर्थिक प्रगति है, उतना ही वहां सुख का अभाव है। यह खटकने वाली बात है। एक ओर बहुत प्रगति है। उनकी टेक्नोलोजी (तकनीकी ज्ञान) बहुत बढ़ गयी है। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि अब थोड़े ही समय बाद वहां सारा काम यंत्रों से ही होगा। वे प्रगति की ओर यहां तक जा रहे हैं कि प्रजा-निर्माण का कार्य भी मनुष्य के बिना ही वहां हो सकेगा, अर्थात् सब बातें यंत्रों के सहारे होंगी। वे चन्द्रमा पर भी पहुंच गये हैं। इसके विपरीत विगत वर्षों के कुछ आंकड़ों के अनुसार सबसे अधिक आत्महत्यायें अमरीका में हुईं। सबसे अधिक पागलपन का परिमाण भी वहीं है। न्यूरस्थेनिया नामक स्नायुदोष (Nervous disorder) भी सबसे अधिक वहीं होता है। रक्तचाप और हृदय-रोग भी वहीं सर्वाधिक होते रहते हैं। अपराध करने की प्रवृत्तियां भी वहीं हैं। एक ओर तो प्रगति हो रही है और दूसरी ओर ये सब बातें हैं। इस प्रकार यद्यपि अमरीका धनी और तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्र हैं, तो भी वहां समाज में सुख का अभाव है।

वर्धमान असंतोष

सबसे अधिक असंतोष भी वहीं दिखाई देता है। अपने यहां होने वाले विश्वविद्यालयों की गड़बड़ के कारण हम दुःखी हैं। किन्तु वहां तो इससे भी अधिक गड़बड़ियां हुई हैं। वहां स्टेनगन आदि हाथ में लेकर लोगों ने विद्रोह किए हैं। अमेरिका की नई पीढ़ी यह घोषित कर रही है कि वह वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट है। मेरे एक मित्र अमरीका गये थे।

वे वहां के विद्यार्थी नेताओं से मिले। इन्होंने उनसे पूछा कि आप क्या चाहते हैं? तो उन्होंने कहा कि हम चाहते हैं वर्तमान व्यवस्था नष्ट होनी चाहिए, कन्ज्यूमर सोसायटी समाप्त होनी चाहिए। तब इन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा "आप किस प्रकार का समाज चाहते हैं? कृपया यह जरा बताइए।" तो उन विद्यार्थी नेताओं ने कहा "हम यह तो नहीं बता सकते कि किस प्रकार का समाज चाहते हैं, इसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं है। लेकिन वर्तमान (कन्जूमर सोसायटी) नष्ट होनी चाहिए, हम तो इतना ही जानते हैं।" अब ये दोनों विरोधी बातें हमारे सामने हैं कि एक ओर अमेरिकी लोग चन्द्रमा पर आक्रमण कर रहे हैं और दूसरी ओर उन के समाज के मन में असंतोष है, विद्रोह की भावना है।

आजकल का यह 'हिप्पी-कल्ट' तो एक प्रकार से अमरीका के मानसिक असंतोष का बैरोमीटर ही है। हमारे यहां भी ये हिप्पी आ रहे हैं। क्या इनके सारे असंतोष का कारण भौतिक अभाव है? अपने देश में खाने पीने को पूरा नहीं मिलता, इसलिये अपने देश में तो हम समझते हैं कि सभी असंतोष का कारण भौतिक अभाव है। यहां हमारी समस्याएं 'निर्धनता' की हैं और प्रतीत होता है कि अमरीका की समस्याएं 'विपुल सम्पन्नता' की हैं। वहां भी असंतोष है, उनकी भी समस्याएं हैं। हिप्पी लोग गरीबी के कारण यहां नहीं आ रहे हैं। बड़े-बड़े धनी सम्पन्न लोगों के लड़के भी इन हिप्पियों में होते हैं। वर्तमान व्यवस्था से उनको संतोष नहीं है। अमरीका में हमको यह बात दिखाई देती है।

तकनीकी प्रगति की समस्याएं

यह बात सही है कि अमरीका तकनीकी दृष्टि से बहुत उन्नत होता जा रहा है। लेकिन इसके कारण समस्याएं भी निर्माण हो रही हैं। टेक्नोलोजी पर भरोसा रखते हुए उन्होंने हर दिशा में प्रगति की है। किन्तु उन्होंने इसका विचार नहीं किया कि कुल मिलाकर समाज और व्यक्ति के जीवन पर इसके क्या परिणाम होंगे? वहां के विचारकों के अनुसार इसके कारण दो प्रकार की क्षतियां हो रही हैं। एक तो प्रश्न यह है कि

ईश्वर-प्रदत्त साधनों का उपभोग कितना करना और कैसे करना है ? यदि हम अपने सुख के लिए आज ही इनका सारा उपभोग कर लेंगे तो आने वाली पीढ़ियों का क्या होगा ? इसका विचार न करते हुए उन्होंने इनका उपभोग किया है। इसके कारण प्राकृतिक ईंधन और खनिज ईंधन दो सौ वर्ष से अधिक टिकने वाला नहीं है। जिस गति से अभी उसका उपभोग हो रहा है, उस गति से २०० साल बाद हम खनिज ईंधन पर अवलम्बित नहीं रह सकते। वह समाप्त हो जायगा। आणविक शक्ति की दृष्टि से थोरियम और यूरेनियम की आपूर्ति भी अनिश्चित काल तक नहीं हो सकती। इसकी भी अपनी एक मर्यादा है। आज जिस गति से उपभोग हो रहा है, उसके कारण आगे आने वाली पीढ़ियों को बहुत दुःख और अभाव का सामना करना पड़ेगा। यह बात वहां के विचारक सोच रहे हैं।

प्राकृतिक असंतुलन

इसके अतिरिक्त इस तारतम्यरहित अनियंत्रित उपभोग (Indiscrete consumption) के कारण प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है। इसके फलस्वरूप उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि आज की तक्नोलोजी के कारण दुःख का निर्माण हो रहा है। आपने पिछले साल पढ़ा होगा कि प्रदूषण (Pollution) की समस्या आ रही है। हर वस्तु प्रदूषित हो रही है। वायु प्रदूषित है। जल प्रदूषित है। अब हम भूमि को भी प्रदूषित करते जा रहे हैं। हर जगह प्रदूषण आ रहा है। प्रदूषण इतना भीषण है कि अमरीका में सभी लोगों के सामने—चाहे वह उद्योगपति हो, चाहे श्रमिक हो—यही एक प्रश्न है कि वायुमंडल को हम कैसे शुद्ध कर सकते हैं ? इसके कारण संयुक्त राष्ट्र संघ के—जिसमें पश्चिमी राष्ट्रों का नेतृत्व है—आधिपत्य में पिछले वर्ष स्टाकहोम में एक विश्व वायुमंडलीय परिषद (World ecological conference) हुई। Ecology का अर्थ है Environmeotal Science यानी वायुमंडल शास्त्र। इस परिषद में सभी विचारकों तथा शास्त्रविदों ने यह चिन्ता प्रकट की कि सम्पूर्ण वायुमंडल में और जल में मनुष्य और पशु

पुस्तक क्रमांक 38

जीवन के लिए कुछ घातक तत्वों का संचार हो रहा है। भारत में भी कानपुर, बम्बई, कलकत्ता आदि के वायुमंडल में तीन हजार ऐसे रासायनिक पदार्थ विद्यमान हैं, जो मानव-स्वास्थ्य के लिए घातक हैं। इस समस्या के कारण अमरीका में विचार चल रहा है कि यह तक्नोलॉजी बदलनी चाहिए, नहीं तो यह प्रदूषण मनुष्य और पशु जीवन के लिए घातक सिद्ध होगा। वहां अब इसका नये सिरे से विचार हो रहा है।

तकनीकी ज्ञान का उद्देश्य

एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने लिखा है कि हम टैक्नोलोजी के पीछे बहुत जा रहे हैं। हम यह मानने लगे हैं कि तकनीकी ज्ञान का ही महत्व सबसे अधिक है। लेकिन हम सब बातें तकनीकी ज्ञान पर नहीं छोड़ सकते। यदि हम सब बातें इसी पर छोड़ देंगे तो मानव जाति का क्या होगा—इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। तकनीकी ज्ञान का अर्थ उन्होंने यह बताया कि वह ज्ञान जो हमें उद्देश्य प्राप्ति की विधि बताता है। किन्तु पश्चिम के अनुभव के आधार पर उन्होंने यह कहा कि तकनीकी ज्ञान का जितना महत्व है, उससे अधिक महत्व की बात दूसरी है, और वह है तकनीकी ज्ञान का उद्देश्य अर्थात् किन उद्देश्यों को प्राप्त करना है? इन उद्देश्यों को कैसे प्राप्त किया जाय, यह तो बाद का विचार है। किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है, इसका निर्णय हम पहले करें। इसका निर्णय हम मशीनरी और टेक्नोलोजी पर नहीं छोड़ सकते। इसका निर्णय तो मनुष्य को स्वयं करना है। जैसे-जैसे टेक्नोलोजी का विकास होगा, वैसे-वैसे यह मनुष्य पर शासन करेगी। यह स्थिति अच्छी नहीं है। मनुष्य के लिए टेक्नोलोजी है, टेक्नोलोजी के लिए मनुष्य नहीं है। इस कारण पहले यह तय हो कि मनुष्य अपने जीवन में क्या चाहता है और फिर उसके अनुकूल टेक्नोलोजी का विकास किया जाए। टैक्नोलोजी को मनुष्य की सेवा में लगाया जाय। यह विचार उन्होंने रखा।

बन्दर का पंजा

उन्होंने बताया कि हमने पहले ऐसा नहीं किया। किन उद्देश्यों को

प्राप्त करना है, यदि यह पहले तय नहीं किया और जैसे-जैसे टैक्नोलोजी का स्वाभाविक तौर पर विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे हम बहते जावेंगे तो बड़ी दुरावस्था होगी। उन्होंने कहा कि हमें कुछ बातें तो मिलेंगी, किन्तु हमें उनका बहुत अधिक मूल्य देना पड़ेगा। इसके लिए उन्होंने एक उदाहरण दिया है। 'बन्दर का पंजा' (Monkey's Paw) नामक एक बड़ी अच्छी कहानी है। कहानी लम्बी है। उसका मुख्य निष्कर्ष यह है कि 'बन्दर का पंजा' एक ऐसी वस्तु है कि जब वह आपके हाथ में आ जाती है तो आप जो कुछ चाहेंगे वह आपको मिल जाएगा। एक बूढ़े आदमी को वह 'पंजा' मिल जाता है। वह सोचता है, जो इच्छा करूंगा, वह पूरी होगी, तो मेरी क्या इच्छा है? वह उसको हाथ में पकड़कर अपनी इच्छा बताता है कि मुझे आज २०० पौण्ड मिलने चाहिए। 'बन्दर के पंजे' के कारण उसको २०० पौण्ड अवश्य प्राप्त होंगे। उसी दिन एक व्यक्ति उसे २०० पौण्ड देने आया। बूढ़े ने उससे पूछा कि भाई! तुम कौन हो? तो वह बोला कि जिस फैक्टरी में तुम्हारा लड़का काम कर रहा है, उसके मैनेजर ने मुझे ये दो सौ पौण्ड तुम्हें देने के लिए भेजा है। यह सुनकर उसको बड़ा आनन्द हुआ कि मैं दो सौ पौण्ड चाहता था वह मुझे मिल गया। अहा! इस 'बन्दर के पंजे' की कितनी सामर्थ्य है कि जो वस्तु मैं चाहता हूं, वह मुझे मिल गई। लेकिन बाद में उसने पूछा कि मैनेजर ने ये दो सौ पौण्ड क्यों भेजे हैं? तो उस व्यक्ति ने बड़े दुःख के साथ कहा कि आपका लड़का मशीनरी का काम करते-करते बीच में कट गया और उसकी मृत्यु हो गई। कर्मचारी क्षतिपूर्ति (Workmen's compensation) की पहली किश्त के ये दो सौ पौंड हैं। यह सुनने पर उसे बड़ा दुःख हुआ। यानी बन्दर का पंजा एक ऐसी वस्तु थी कि उससे आप जो इच्छा करेंगे, वह पूरी होगी। लेकिन किस मूल्य पर? उसका कितना मूल्य देना पड़ेगा, यह निश्चित नहीं। उस वैज्ञानिक ने कहा कि यदि हम मनुष्य जीवन के उद्देश्य का विचार न करते हुए केवल तकनीकी प्रगति के पीछे पड़ेंगे तो यह टैक्नोलोजी हमारी हालत बन्दर के पंजे जैसी कर देगी।

कहने का अर्थ यह है कि एक देश, जो दुनिया का नम्बर एक का देश माना जाता है, जो चन्द्रमा पर पहुंच गया है, वह अपने देश के लोगों को सुखी नहीं कर सका—ऐसा दिखाई देता है।

कम्युनिस्टों की स्थिति

अब नम्बर दो का देश 'रूस' हमारे सामने आता है। आजकल वह हमारा मित्र भी बन गया है। इसलिए वहां की परिस्थिति के बारे में हमारे यहां बहुत कुछ जानकारी है। वहां भी कोई सुख-समाधान है, ऐसा नहीं दिखता। इसके लिए कोई बहुत विस्तृत विवरण की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम इतना जानते हैं कि १९१७ में रूस ने जो एक नया प्रयोग शुरू किया, जो सिद्धान्त सामने रखे और जो घोषणाएं कीं, उनमें से हर एक में वे निरन्तर परिवर्तन लाते जा रहे हैं। इस विषय में संक्षेप में ही थोड़ा-सा संकेत करना पर्याप्त होगा।

उदाहरण के लिए, उन्होंने कहा था कि निजी सम्पत्ति नहीं (No private property) किन्तु अब रूस में निजी सम्पत्ति आ गई है, और वह बढ़ती जा रही है। रूस के संविधान की धारा क्रमांक १० में यह लिखा है कि किन विशेष परिस्थितियों में निजी सम्पत्ति का अधिकार रहेगा। वह सम्पत्ति उत्तराधिकार में भी प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार रूस में निजी सम्पत्ति आई भी है और बढ़ने भी लगी है।

उन्होंने कहा था कि हम सबको समान मानेंगे। लेकिन वहां सबको समान पैसा नहीं मिल रहा है। नवीनतम उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार इसमें कम से कम और अधिक से अधिक आय का अन्तर १ और ८० के अनुपात का है। जबकि पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका में कम से कम और अधिक से अधिक आय का नवीनतम आंकड़ा १ : १५ के अनुपात का है। रूस में यह असमानता और भी बढ़ती जा रही है। चीन जो रूस को गाली देता है, उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि (To each according to his need) 'हरएक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' के शास्त्रीय समाजवाद के घोषित सिद्धान्त को रूस ने छोड़

दिया, और अब वहां 'हर एक को उसकी योग्यता और उत्पादन इत्यादि के अनुसार' दिया जाता है न कि उसकी आवश्यकता के अनुसार। यह समाजवाद के साथ गद्दारी है। यह सबसे प्रमुख गाली है जो रूस को चीन ने दी है।

यह कहा गया था कि वर्ग विहीन समाज की रचना होगी। किसी भी साम्यवादी देश में चाहे वह रूस हो या कोई और, वर्ग-विहीन समाज की रचना नहीं हुई। श्री जिलास ने अपनी 'The New Class' नामक पुस्तक में बताया है कि वहां पुराने वर्ग तो समाप्त हुए, किन्तु नये वर्गों का निर्माण हुआ है। ये नये वर्ग हैं शासक और शासित। ये वर्ग बहुत अधिक सजीव और सक्रिय हैं। स्पष्ट है कि वर्ग नष्ट नहीं हुए।

यह भी कहा गया था कि परिवार एक बुझा संगठन है, इसे नष्ट करेंगे और कम्यूनों की स्थापना करेंगे। रूस में तो ये कम्यून असफल हो गये। परिवार संगठन वहां आया है और वह पूरी तरह आया है। आज पारिवारिक संरचना रूस में चल रही है।

उनका कहना था कि हम राष्ट्रवाद को नहीं मानते। किन्तु सब लोग जानते हैं कि पिछले महायुद्ध के समय रूस में राष्ट्रीयता के आधार पर ही लोगों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया गया। तब से अब तक न केवल रूस में, अपितु सभी साम्यवादी देशों में राष्ट्रवाद बहुत प्रबल हुआ है। यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की तुलना में राष्ट्रवाद के अधिक प्रबल होने के कारण साम्यवादी देश एक दूसरे के साथ लड़ रहे हैं। चीन और रूस का संघर्ष भी वास्तव में राष्ट्रीय-विस्तार का ही संघर्ष है। ऐसे और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

फिर यह कहा गया था कि लाभ-हेतु, मांग-पूर्ति तथा प्रतियोगिता—ये तीनों विशुद्ध पूंजीवादी प्रवृत्तियां (Capitalistic characteristics) हैं। किन्तु आज लाभ का उद्देश्य और प्रतियोगिता

(Competetion) दोनों का प्रवेश रूस में हुआ है। मांग एवं पूर्ति के पूंजीवादी सिद्धान्त (Law of demand and supply) का भी प्रवेश वहां हुआ है।

इस प्रकार रूस एक-एक घोषित बात से पीछे हटता जा रहा है।

रूस में भी सुख का अभाव

इतना होने के बाद भी कुल मिलाकर रूसी जनता में बड़ा सुख है या बड़ी शान्ति है, इस प्रकार का अनुभव नहीं आया। उनकी भी तकनीकी प्रगति हो रही है। एक ओर तो वे चन्द्रमा तक पहुंच गये हैं, और दूसरी ओर वे यहां तक अभावग्रस्त हैं कि स्वयं अपने लोगों को खिलाने के लिए पर्याप्त अनाज भी उत्पन्न नहीं कर सकते। उनको पूंजीवादी देशों से अनाज लाना पड़ रहा है। यदि वास्तव में रूस की अवस्था देखी जाय तो अनेक गणराज्यों तथा गैर-रूसी व अश्वेत-रूसी लोगों में आज पर्याप्त असंतोष है। वहां भी रूसीकरण के द्वारा शोषण चल रहा है। यह दशा स्पष्टतः अश्वेत रूसी लोगों की है। जो भी रूस में जाकर आयेगा, उसको सामान्य अवलोकन से ही यह बात ध्यान में आ सकती है।

अनुकरण में कठिनाई

यदि हमें अनुकरण ही करना है तो ऐसे लोगों का ही करना चाहिए कि जिनका अनुकरण करने से कुछ लाभ हो। नहीं तो 'गुनाह बेलज्जत' जैसी बात हो जाएगी। हमारे सामने ऐसा कोई माडल (ढांचा) आ जाता तो बहुत अच्छा हो जाता कि जो चीज हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह किसी अन्य ने भी प्राप्त की है। अतः अब यदि उसका अनुकरण करेंगे तो हम भी अभीष्ट प्राप्त कर सकेंगे। आज स्थिति यह है कि रूस का अनुकरण तो साम्यवादी देश भी नहीं कर रहे हैं। रूस की औद्योगिक व्यवस्था का यथावत् अनुकरण उसके अधीन काम करने वाले चैकोस्लोवाकिया, हंगरी आदि देश भी नहीं कर रहे। बाकी सब व्यवस्था में भी वे रूस से मार्गान्तरण (Deviation) करते जा रहे हैं और जब रूस ने इन सब साम्यवादी देशों को कहा कि आप लोगों को हमारा ढांचा ही लेना

चाहिए, तो उन देशों ने इनकार किया और कहा—हम आपसे साम्यवाद तो अवश्य ले रहे हैं लेकिन हमें अपनी संस्कृति और परम्पराओं में ढाल कर ही लेना पड़ेगा, नहीं तो हमारा काम नहीं बनेगा। हर एक ने अपना-अपना माडल (ढांचा) खड़ा करने की कोशिश की। यदि यूरोप के सभी साम्यवादी देश, जो सीधे रूस के प्रभाव में हैं, वे भी ऐसा अनुभव नहीं कर रहे कि हम रूसी माडल के द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं, तो बाकी देश उसके द्वारा कहां तक अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकेंगे—यह एक विचारणीय प्रश्न है।

चीन का उदाहरण

हमारे सामने चीन का भी एक उदाहरण है। चीन में भी व्यापक असंतोष है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर करोड़ों लोग मारे गये हैं। ऐसी कितनी ही बातें हम लोग देख रहे हैं। वहां निरन्तर असंतोष है। यह कहा गया है कि इंकलाब जिन्दाबाद (Long live revolution)। रिवोल्यूशन यानी परिवर्तन। अर्थात् अभी वहां स्थायित्व (Stability) नहीं आ रही है। निरन्तर परिवर्तन की ही बातें चल रही हैं, ऐसा दिखाई देता है। सांस्कृतिक क्रान्ति का माओ का समर्थन यदि सही भी मान लिया जाय तो भी उसकी आवश्यकता, विद्यमान चीनी रचना की विफलता का ही परिचय देती है।

इस तरह जहां भी हम देखते हैं, वहां ऐसा कोई ढांचा हमारे सामने नहीं दिखता। आखिर हमें अनुकरण ही करना है, किसी न किसी का शिष्य ही बनना है, तो फिर किसी ऐसे ही देश का या ऐसी ही विचार-धारा का शिष्य बनना चाहिए, जिसके कारण भविष्य में हमारा लाभ हो। अन्यथा होगा यह कि हम दूसरे का शिष्यत्व भी लें लेंगे, मानसिक दासता भी स्वीकार करेंगे और जिसके लिये यह स्वीकार करेंगे, वह भी प्राप्त नहीं होगा। ऐसी गलती नहीं होनी चाहिये।

हमारी गिरावट

अब हम स्वयं अपने बारे में विचार करें। आज ऐसा दिखाई देता

है कि हमारी परिस्थिति बहुत ही खराब है। हम एक पिछड़े हुए राष्ट्र हैं । इसके कारण हमारे मन में हीनता का भाव निर्माण हो सकता है। हमारी जो जो चीजें हैं–धर्म है, संस्कृति है, परम्परा है—वे यदि अच्छी होतीं तो हमारी ऐसी गिरावट क्यों हो जाती ? अर्थात जो कुछ भी हमारा है वह सब बुरा है, यदि ऐसा मन में आता है, तब तो और भी अंधेरा है। यानी हमारी परम्परा में कुछ अच्छा है ही नहीं और पराया कोई माडल भी हमारे सामने नहीं है—ऐसी परिस्थिति में हम अगला रास्ता कैसे देख सकते हैं।

लेकिन कुछ विचित्र बातें होती हैं । मैंने कई उदाहरण बताये हैं, जिनमें परस्पर विरोधी बातें हैं । जैसे रूस द्वारा एक ओर चन्द्रमा पर पहुंचना और दूसरी ओर अपने लिए पर्याप्त अनाज उत्पन्न न कर सकना। अमरीका द्वारा एक ओर चन्द्रमा पर पहुंचना और दूसरी ओर वहां विद्यार्थियों द्वारा विद्रोह का झंडा गाड़ना । यह जिस प्रकार से परस्पर-विरोधी बातें हैं, वैसे ही कुछ अन्तर्विरोध अपने यहां भी है। हमारी गई-बीती परम्पराओं और आज की आकांक्षाओं का यदि विचार किया जाये, तो ऐसा ही विरोधाभास उसमें भी दिखाई देता है।

पश्चिमी विचारधाराएं

पश्चिम में कई विचारधाराएं हैं । पश्चिम की और हमारी पद्धति में अन्तर है। वहां विचार में थोड़ा-सा भी परिवर्तन होता है, तो वे कहते हैं कि हमारी अलग वैचारिक धारा (School of thought) है। जबकि हमारे यहां ऐसा था कि हरएक ने अपना विचार तो रखा, किन्तु किसी ने भी यह नहीं कहा कि यह मेरा नया विचार है। हरएक ने यही कहा कि 'इदं परम्परा प्राप्तम्' यह तो परम्परा से प्राप्त है। पहले से चलता आया है। हरएक ने कहा कि वेद में इसका आधार मिलता है। किन्तु पश्चिम में ऐसा नहीं है। अतः आज तरह-तरह के वाद (Isms) वहां दिखाई देते हैं। लेकिन वादों तथा इनके अन्तिम विचारों में कुछ बातें समान हैं।

समानता

ये समान बातें कौन-सी हैं ? हम दो-तीन बातों का विचार करें। उनमें एक बात तो यह है कि जितने भी वामपंथी वाद (Leftisms) हैं, उनका एक अच्छा फैशनेबुल शब्द है Equality यानी समानता। ऐसा माना जाता है कि यह सब बातों का आधार है। सब समान होने चाहिए। आप चाहे साम्यवाद को लें, चाहे समाजवाद को, चाहे अराजकता-वाद (Anarchism) को लें चाहे और कोई वाद लें; सबमें समानता की बात दिखाई देती है। किन्तु अब तक यह समानता कहीं भी प्रस्थापित नहीं हो सकी।

विफल पश्चिमी प्रयोग

अलग-अलग साम्यवादी देशों ने एक दूसरे को जो प्रमाणपत्र दिये हैं, यदि हम उनका विचार करें, तो एक बात निश्चित हो जाती है कि आज समानता कहीं नहीं आ सकी है। जहां समानता लाने का प्रयास किया गया, वहां भी लोगों ने फिर से समानता के विरुद्ध प्रयास करते हुए असमानता की स्थापना की है। रूस और बाकी देशों के उदाहरण साक्षी हैं।

व्यक्तित्व विकास और राष्ट्रसेवा

अब हम जरा सोचें कि 'समानता' क्यों नहीं आ सकी ? हमारे यहां समानता के बारे में क्या विचार था। मान लें कि जितने हिन्दू विचार आये, वे सब गलत हैं, क्योंकि यदि वे गलत न होते तो हमारी गिरावट न होती। एक बार इसे भी तर्क के लिए मान्य कर लेते हैं। फिर भी हम यह तो देखें कि हमारा विचार क्या था। आज के आधुनिक विचारकों के विचार क्या हैं ? यही कि सब लोग समान हैं। लेकिन वे कहीं भी समानता नहीं ला सके। इसका एक कारण तो यह है कि दो ऐसी उत्कट इच्छाएं हैं कि जिनका परस्पर मेल पश्चिम की किसी भी विचार-धारा में नहीं हो सका है।

असफलता का कारण

इनमें से एक उत्कट इच्छा यह है कि हरएक व्यक्ति का विकास

केशव माधव पुस्तकालय
... अध्ययन ...

होना चाहिए । यह विकास कैसे होगा ? अपने यहां सोचा गया कि हर व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए । जहां प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायरा समाप्त होता है, वहां संस्कृति का दायरा प्रारम्भ होता है । अतः सबसे पहले प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए । हर-एक की 'आहार निद्रा-भय-मैथुनम्' की उचित पूर्ति होनी चाहिए, उचित संतुष्टि होनी चाहिए । उसके बाद संस्कृति का क्षेत्र शुरू होता है ।

लेकिन 'हरएक व्यक्ति का विकास' हरएक को ऐसा काम देने से होगा जो काम उसके लिए उचित यानी उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति के लिए अनुकूल हो । इस तरह का काम करने से उसको उसी में आनन्द आयेगा और फिर काम और आराम दोनों उसके लिए एक हो जावेंगे । इसके कारण उसका काम भी अधिक अच्छा होगा । काम की गुणात्मकता भी अधिक अच्छी होगी और निष्पन्न काम की मात्रा भी अधिक होगी । वह व्यक्ति श्रेष्ठतम उत्पादन या सेवा दे सकेगा और यदि वह इस प्रकार की सेवा या उत्पादन को राष्ट्र पुरुष के चरणों पर समर्पित करता है तो वह उसका राष्ट्रपुरुष के लिए सर्वोत्कृष्ट संभव योगदान (Highest possible contribution) कहा जायगा । एक ओर वह राष्ट्र-पुरुष के चरणों पर अपना 'सर्वोत्कृष्ट संभव योगदान' अर्पित करेगा और दूसरी ओर उसका स्वयं का विकास होगा । उसकी रुचि, प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार उसका विकास होगा । एक ओर व्यक्ति का विकास और दूसरी ओर राष्ट्र को अधिक से अधिक उत्पादन व सेवायें प्राप्त होंगी । ये दोनों बातें सम्भव हो सकेंगी । व्यक्ति का विकास इस तरह होना चाहिए, यह एक बात अपने यहां सोची गई है ।

व्यक्ति और समाज : अंगांगीभाव

किन्तु यह भी अपने यहां सोचा गया कि व्यक्ति अपने को केवल एक मौलिक इकाई न समझे । सम्पूर्ण समाज के बारे में हमारे यहां एक

धारणा है कि यह संपूर्ण समाज एक शरीर के समान है और हर व्यक्ति या व्यक्तिसमूह इसके अंग-प्रत्यंग के रूप में है। हम लोग अपने संघ में इसका वर्णन बहुत बार सुनते हैं। मैं और मेरा समाज का पारस्परिक संबंध अंग और अंगी अर्थात् अवयव और शरीर के सम्बन्ध जैसा है। और इसलिए हम राष्ट्रांगभूत है। हम अलग-अलग नहीं है। इस एकात्मकता की भावना के कारण एक ओर अपना विकास होता है और दूसरी ओर उसके उच्चतम और श्रेष्ठतम फल को हम राष्ट्र पुरुष के चरणों पर समर्पित करते हैं। इस प्रकार सबके मन में राष्ट्र के विषय में अंगांगीभाव होता है। इसमें हरएक के व्यक्तिगत विकास के साथ और राष्ट्र के विकास का समन्वय होता है। यह बात हमारे यहां कही गई है। हर व्यक्ति का पूरा विकास हो। हर व्यक्ति के मन में राष्ट्र-समर्पण का भाव रहे। सम्पूर्ण समाज की रचना ऐसी रहे कि जिसमें हर व्यक्ति का पूरा विकास होने के लिए पूरा अवसर रहे। और जहां हर व्यक्ति का पूरा विकास हो रहा है, वहां ऐसा न हो कि एक का विकास दूसरे के विकास के मार्ग में बाधा के रूप में आ जाये। एक के आगे बढ़ने का परिणाम दूसरे के पीछे धकेले जाने में न निकले। सम्पूर्ण समाज की सम्यक् धारणा हो और हरएक व्यक्ति का पूर्ण विकास हो, इन दोनों बातों का समन्वय होना चाहिए। ऐसा विचार अपने यहां था।

व्यक्ति मौलिक इकाई ?

अंगांगी-भाव का विचार पश्चिमी देशों की दृष्टि में पुराना एवं त्याज्य हो गया है। यह आधुनिक या प्रगतिशील विचार नहीं है। हर व्यक्ति सुखी होना चाहिए, यही आधुनिक विचार है। अन्य कुछ नहीं। यही एक बात पश्चिम के लोग जानते हैं। वहां तो व्यक्ति प्रधान है। जो कुछ भी है वह सब व्यक्ति के लिए है। समाज इत्यादि सब व्यक्ति के लिए है। फिर समाज का स्थान क्या है ? व्यक्ति अकेला ही संपूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर सकता। अपना सुख प्राप्त करने के लिए भी चार लोगों की आवश्यकता होती है। अपने सुख के साधन के रूप में ही बाकी समाज

के लोग हैं, अन्यथा समाज नाम की कोई मौलिक इकाई (Basic Entity) नहीं है। मौलिक इकाई तो व्यक्ति है। अतः व्यक्ति का सुख ही प्रधान बात है; यह समाज को क्लब के रूप में समझना हुआ। क्लब कोई मौलिक इकाई नहीं है। क्लब का एक-एक व्यक्ति मौलिक इकाई होता है। क्लब में कोई भी व्यक्ति इसलिये जाता है कि यदि ताश भी खेलना हो तो दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता होती है। अपने सुख के साधन के रूप में चार लोग वहां मिल जाते हैं। इसलिए हर एक व्यक्ति क्लब में जाता है। लेकिन क्लब कोई मौलिक इकाई नहीं है। इसी प्रकार समाज कोई मौलिक इकाई नहीं है। मौलिक इकाई व्यक्ति ही है। उसी के सुख के लिए सब कुछ है। उसको पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। यह एक विचार है।

राज्य ही सर्वेसर्वा

दूसरा विचार यह है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य उसकी अनियंत्रित असीमता के कारण बाकी लोगों को कष्ट होता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर अन्य लोगों का शोषण करने की भी स्वतंत्रता होती है। इसके कारण थोड़े से बुद्धिमान निर्बुद्धों का, बलवान निर्बलों का, और धनी निर्धनों का; शोषण करते जायेंगे और फिर थोड़े ही लोगों के हाथ में सारी सुख-साधन-सामग्री एकत्रित हो जायेगी। बहुजन समाज शोषित और दुःखी होगा। इसलिए यह तो शोषण करने का स्वातंत्र्य हो जायेगा, इसे खत्म करना चाहिये। चूंकि व्यक्ति-स्वातंत्र्य में से ही शोषण-स्वातंत्र्य आता है, अतः व्यक्ति-स्वातंत्र्य को खतम करना चाहिए। इसलिए हम व्यक्ति को मौलिक इकाई न माने। एक ही मौलिक इकाई है, वह है राज्य या सरकार। सब कुछ, यहां तक कि व्यक्ति भी, राज्य के हाथ में होना चाहिए। सारा स्थायित्व का अधिकार राज्य का होना चाहिए और व्यक्ति राज्यतंत्र (State Apparatus) तथा राज्य की मशीनरी के नट, बोल्ट, दांते और चक्र (Nuts, Bolts, Cogs and Wheels) सम निर्जीव पुर्जे रहे। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं रहे और न प्रवृत्ति, प्रकृति और

रुचि । उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत आकांक्षा भी नहीं हो । व्यक्ति को अपना जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिये इसका निर्णय राज्य करेगा । इस निर्णय प्रक्रिया में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं । यह एक दूसरा अतिवाद दिखाई देता है । यहां व्यक्ति का विकास कैसे होगा, इसका कोई विचार नहीं । हरएक व्यक्ति का काम वैसा ही होगा, जैसा केन्द्रीय योजना के अनुसार निश्चित होगा । केन्द्र या राज्य जो काम जिस व्यक्ति के लिए तय करेगा, वही काम उस व्यक्ति को करना पड़ेगा । उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति एवं रुचि का इसमें कोई प्रश्न नहीं ।

काम के बटवारे की पद्धतियां

ये दोनों अतिवाद (Extremisms) दिखाई देते हैं । जहां लोकतंत्र है, वहां इसकी गारन्टी नहीं कि हरएक को उसकी रुचि का काम मिले । लोकतंत्र में स्थानरिक्तता के अनुसार कार्य प्राप्ति की व्यवस्था है । जिस समय, जहां, जिस स्थिति में रिक्त स्थान होगा, वहां वैसा काम उसको मिलेगा । चाहे वह उसकी रुचि का हो या न हो । इसके कारण बहुत बार ऐसा हो सकता है कि गोल छिद्र में चौखट स्थापन (Square ball in a round hole) हो जाये ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतंत्र में स्थान रिक्तता के अनुसार कार्यप्राप्ति की व्यवस्था (Vacancywise arrangement of jobs) है । साम्यवाद के अन्तर्गत केन्द्रीय आयोजनानुसार कार्य प्राप्ति की पद्धत्ति (Central plan wise arrangement of jobs) है । दोनों में ही व्यक्ति की रुचि का ध्यान नहीं है । हमारी प्राचीन पद्धत्ति में प्रवृत्ति के अनुसार कार्य की व्यवस्था (Aptitude-wise arrangement of jobs) थी ।

सामाजिक आवश्यकताओं का मेल

अपनी रचना में यह व्यवस्था थी कि हरएक को उसकी प्रवृत्ति या रुचि (Aptitude) के अनुसार काम मिलना चाहिए । फिर समाज की धारणा का जो अर्थ था, उसका एक हिस्सा यह भी था

कि जब हम सम्पूर्ण समाज के सब व्यक्तियों के व्यक्तिगत काम का विचार करेंगे, तो सम्पूर्ण समाज की कुल आवश्यकताओं और सभी व्यक्तियों की प्रवृत्तियों का विचार भी करेंगे। हर व्यक्ति को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम मिले। फलतः हरेक का उत्पादन अधिकतम होगा। उन सबके अधिकतम उत्पादन के योग और राष्ट्र की कुल आवश्यकताओं का बराबर तालमेल बैठना चाहिए। यह तालमेल बैठाना धर्म की एक कसौटी थी।

दो मौलिक कामनाएं

पश्चिम की विचारधारा में यह बात तो है कि हरएक व्यक्ति का विकास हो किन्तु वहां समानता की बात सफलतापूर्वक क्यों नहीं हो सकी? ऐसा दिखाई देता है कि पश्चिम वाले व्यक्ति के मन की दो परस्पर विरोधी इच्छाओं का मेल नहीं बिठा सके। 'समाज की धारणा' और 'व्यक्ति का विकास' में समायोजन नहीं किया जा सका। समाज की सम्यक् धारणा किस आधार पर हो सकती है? उनका कहना है कि समानता के आधार पर होनी चाहिए। उनका यह विचार सही है या गलत है, यह एक अलग बात है। परन्तु उनकी यह कामना है कि समानता होनी चाहिए। उनकी एक कामना है समानता की और दूसरी कामना है व्यक्ति के विकास की। किन्तु पश्चिम की जो मनःस्थिति है, उसमें दोनों का समन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि पश्चिम मूल रूप से भौतिकवादी है। उनके सारे विचार केवल भौतिक आधार पर चलने वाले हैं। उनके सारे जीवन-मूल्य (Values of life) भौतिक हैं। भौतिक समृद्धि, भौतिक लाभ, भौतिक सुविधाएं अर्थात् जो कुछ भी भौतिक है, बस उसी की वहां कीमत है। बाकी किसी चीज की नहीं।

भौतिक जीवन-मूल्यों के कारण कुछ समस्यायें आती हैं। मान लें कि समाज में समानता आ गई। इस समानता का अर्थ क्या है? किसी ने कहा है कि कम से कम और अधिक से अधिक आमदनी में १:४० का अन्तर हो तो समानता माननी चाहिए। किसी ने कहा १ : २० का अन्तर रहना चाहिए और किसी ने कहा कि १ : १० का रहना चाहिए। अब मान

लीजिए कि यह समानता की अवस्था आ गयी। अर्थात् कम से कम और अधिक से अधिक आय में १ व १० का अनुपात है। यदि कम से कम आय १०० रुपये है, तो अधिक से अधिक आय १००० रुपये से ऊपर नहीं हो सकती। यह बड़ा अच्छा है। हमारी एक कामना पूरी हो गई।

लेकिन इसमें व्यक्ति के विकास की एक दूसरी समस्या का निर्माण होता है। मान लीजिए कि मैंने बहुत काम किया। विकास करने के लिए बहुत काम करना पड़ता है। यह मैंने किया। पर यह सब मैं किसलिए करूंगा? मेरे जीवन-मूल्य तो केवल भौतिकतावादी हैं। मैं इतना परिश्रम किसलिये कर रहा हूं? भौतिक लाभ के लिए ही तो करूंगा। पर आपने तो कहा कि मुझे एक हजार से अधिक मिलने वाला नहीं, चाहे मैं आईन्सटीन के समान बुद्धिमान हो जाऊं, चाहे डा० राधाकृष्णन के समान दार्शनिक बन जाऊं, चाहे मैं सर विश्वेश्वरैया के समान तंत्रज्ञ बन जाऊं। मैंने अधिक से अधिक प्रगति की, तो भी १००० रु० से अधिक तो मुझे मिलने वाला नहीं है। इसके विपरीत मान लीजिए कि मैंने कुछ काम नहीं किया। अपने आत्मविकास की कोई योजना नहीं बनाई। तो भी १०० रुपये से कम तो मुझे मिल ही नहीं सकता। ऐसा आपके संविधान में है। संविधान में लिखा है समानता। अतः मुझे १०० रु० तो निकम्मेपन में भी मिलेगा और बहुत परिश्रम करने पर भी मुझे १००० रु० से अधिक मिलने वाले नहीं। इससे अधिकांश लोगों के मन में आयेगा कि इतना परिश्रम करने का पागलपन क्यों करे? इसमें कुछ लाभ नहीं है। इससे तो अच्छा है कि आराम से रहेंगे। १०० रु० तो मिल ही जायेंगे। स्पष्ट है कि भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों की अवस्था में समानता के सिद्धान्त को लाते ही आत्म-विकास की प्रेरणा समाप्त होने लगती है।

प्रतिभा का पलायन

हमारे देश में आज प्रतिभा के पलायन का प्रश्न खड़ा हुआ है। उसका भी कारण यही है। हमने अपने वैज्ञानिकों और शिल्पज्ञों के सामने भौतिकतावादी मान्यतायें रखीं हैं। उनका जीवन का उद्देश्य भी

भौतिकतावादी ही है । वे बहुत पढ़-लिख कर परिश्रम करके योग्यता प्राप्त करते हैं । हो सकता है कि इनमें से कुछ थोड़े से लोग आत्मविकास की दृष्टि से पैसे का विचार न करते हुए शोध के अगले चरणों की सुविधा यहां न होने के कारण विदेश में जाते हैं । लेकिन अधिसंख्य लोग यह सोचते हैं कि हमने जितनी योग्यता परिश्रम करके प्राप्त की है, उस योग्यता के अनुसार यहां आर्थिक प्राप्ति नहीं हो सकती, तो फिर यहां रहकर क्या करेंगे ? इसलिए विदेशों में जाकर बसना चाहिए । इस प्रकार बहुत सारे विशेषज्ञ विदेशों को जा रहे हैं । यह प्रतिभा के पलायन (Brain drain) की समस्या हमारे सामने है । इससे स्पष्ट है कि जब तक जीवनमूल्य भौतिकतावादी हैं, समानता और व्यक्ति के विकास का मेल नहीं बैठ सकता ।

अन्तर्विरोधी प्रेरणाएं

हम केवल भौतिकतावाद के आधार पर विचार कर रहे हैं। भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों के कारण यदि समानता रहेगी तो व्यक्ति के विकास का प्रोत्साहन खतम होगा और यदि व्यक्ति के विकास का प्रोत्साहन रहेगा तो समानता खतम होगी । दो में से केवल एक बात होगी । दोनों का मेल नहीं बैठता । इसी कारण पश्चिम में समानता महज एक नारा है । व्यवहार में समानता नहीं है । वे समानता ला नहीं सकते ।

हिन्दू विचार

अब हम विचार करें कि अपने गये बीते माने जाने वाले हिन्दू विचार में इसके विषय में कोई विचार किया गया था कि नहीं ? एक विचार तो समाज-रचना के सम्बन्ध में था और एक विचार सैद्धान्तिक स्तर पर था । समाज रचना के सम्बन्ध में हमने यह सोचा कि हरएक को आत्म-विकास की पूर्ण प्रेरणा मिलनी चाहिए । पूरी प्रेरणा के लिए उसमें प्रोत्साहन (Incentive) भी होना चाहिए । लेकिन व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक प्रोत्साहन को हमने केवल भौतिकतावादी नहीं माना । कुछ भौतिकतावादी, कुछ अभौतिकतावादी दोनों प्रकार के 'प्रोत्साहन'

हमारे यहां माने गये। भौतिकतावादी प्रोत्साहन का तात्पर्य है, पैसा या सत्ता के कारण प्राप्त होने वाले सुखोपभोग। और दूसरा 'प्रोत्साहन' अभौतिक था, वह था सामाजिक प्रतिष्ठा। आज इस बात को बारीकी से समझने में थोड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि आज सामाजिक सम्मान एवं भौतिक सुविधाएं साथ-साथ चलती हैं (Social status and material privileges go together)। अब इनका विभाजन करके विचार कीजिए कि जहां सामाजिक प्रतिष्ठा है, लेकिन भौतिक सुविधाएं नहीं, वहां व्यक्ति विकास के लिए क्यों प्रयास करेगा? भौतिकता प्रधान पश्चिम में केवल भौतिक सुख की दृष्टि से ही आज मनुष्य प्रेरणा प्राप्त करता है। हमारे यहां सोचा गया है कि दोनों ही प्रेरणायें रहेंगी। एक भौतिकलाभ, जिसके कारण सुख प्राप्त हो सकता है और दूसरी सामाजिक प्रतिष्ठा है जिसमें भौतिक लाभ या सुविधा नहीं, सुख नहीं, केवल प्रतिष्ठा है। फिर यह कहा गया कि भौतिक लाभ और सामाजिक प्रतिष्ठा मिलकर हरएक को समान प्राप्ति होनी चाहिए। उदाहरण के लिये मान लीजिए कि एक निश्चित आकार का वृत्त है। इस वृत्त में हमने दो तरह के रंग भरे, एक लाल और एक हरा। चूंकि वृत्त का आकार तो निश्चित है और इसके रंग दो हैं। अब यदि इसमें लाल रंग का क्षेत्र बढ़ेगा तो हरे रंग का क्षेत्र छोटा होगा। यदि हरे रंग का क्षेत्र बढ़ेगा तो लाल रंग का क्षेत्र छोटा होगा, क्योंकि वृत्त में दोनों एक साथ हैं। इसी तरह से यदि भौतिक सुख का क्षेत्र बढ़ेगा, तो सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र कम होगा और यदि सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र बढ़ेगा तो भौतिक सुख का क्षेत्र कम होगा। किन्तु दोनों मिलकर समान रहेगी (Higher the social status, smaller the sphere of enjoyment, and wider the sphere of enjoyment, lower the social status. But both put together, quantity is the same)। इसमें कौन सी चीज कितनी मात्रा में लेना यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। कोई मजबूर नहीं करता कि क्या ले, कितना ले। यह अपने ऊपर अवलंबित है। आप चाहें तो

सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक ले सकते हैं तो फिर आपको भौतिक सुख कम मिलेगा और यदि आप चाहें तो भौतिक सुख अधिक ले सकते हैं, तब सामाजिक प्रतिष्ठा छोटी रहेगी। किन्तु दोनों स्थितियों में कुल मात्रा समान रहेगी।

असन्तुलन का मूल कारण

आज 'सामाजिक प्रतिष्ठा' और 'भौतिक सुख-सुविधाएं' दोनों साथ-साथ मिल रहे हैं। भौतिक उपलब्धियों की विपुलता पर सामाजिक प्रतिष्ठा निर्भर करने लगी है। इसके कारण आज समाज का संतुलन बिगाड़ने वाली समस्याएं निर्माण होती हैं। 'हिन्दू-समानता' यह एक सच्ची समानता है, वास्तविक समानता है। इसमें हरएक को स्वतंत्रता है। सब लोग समान बातें नहीं चाहते। अलग-अलग लोगों की अलग-अलग आकांक्षाएं होती हैं। अलग-अलग लोगों के अलग-अलग स्वभाव होते हैं। अलग-अलग रुचि होती है। हरएक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपनी पसन्द कर सकता है। लेकिन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रेरणाओं के आधार पर यदि हमने 'पसन्द' की, तो दोनों मिलाकर समानता भी रहेगी और व्यक्तिगत प्रेरणा भी बनी रहेगी।

स्पर्धा या सहयोग

आज चारों ओर स्पर्धा (Competition) दिख रही है। लोग ऐसा सोचते हैं कि स्पर्धा के कारण प्रगति हो रही है। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रगति सहयोग (Cooperation) से होती है, स्पर्धा से नहीं। स्पर्धा के विषय में हमारे यहां यही कहा गया है कि स्पर्धा करनी है तो स्वयं से करो (Competition with one's ownself)। ऐसी स्पर्धा स्वस्थ होती है। प्लूटार्क द्वारा लिखित सिकन्दर के जीवन में यह कहा गया है कि वह अपने खुद के साथ स्पर्धा करता था। वह हमेशा अधिक अच्छा बनने की कोशिश करता था। और तो दुनिया में कोई नहीं था कि जिससे अच्छा बनने की सिकन्दर कोशिश करता। अतः दूसरे की तुलना में अधिक अच्छा नहीं तो खुद की तुलना में। खुद की खुद के

साथ की स्पर्धा वास्तविकता स्पर्धा है। बाकी कोई स्वस्थ स्पर्धा नहीं हो सकती।

वास्तविक समानता

प्रेरणा (Incentive) को हम अपनी अपनी रुचि के अनुसार चुन लें। कुल मिलकर मात्रा समान है, इतना विश्वास रखें। इससे आज की सारी स्पर्धा इत्यादि की भावनाएं नष्ट होती हैं, और इसी से वास्तविक अर्थ में समानता आती है।

स्पर्धा का मूल

यह स्पर्धा क्यों है ? आज हम सार्वजनिक जीवन में देखें। एक का दूसरे के साथ झगड़ा होता है। निगम की सीट उसको क्यों दे दी, मुझको क्यों नहीं दी ? प्रधान मंत्री वह क्यों है, मैं क्यों नहीं ? भारत का राष्ट्र-पति मैं क्यों न बनूं ? इत्यादि इत्यादि। आखिर यह प्रधानमंत्री बनने की इच्छा क्यों हो रही है ? इसलिए कि प्रधानमंत्री की एक सामाजिक प्रतिष्ठा भी है और इसमें भौतिक सुविधाएं भी हैं। यानी प्रधानमंत्री बनने के बाद सुख-सुविधा का क्षेत्र भी बड़ा बनता है और सामाजिक प्रतिष्ठा भी है। सामाजिक प्रतिष्ठा और सुख-सुविधा का क्षेत्र इकट्ठा रहने के कारण आज के मनों में है कि मैं प्रधानमंत्री बनूं।

लेकिन मान लीजिए कि आज का प्रधानमंत्री भी वैसे ही रहा जैसे कि चाणक्य रहता था। चाणक्य के बारे में यह कहा गया कि 'अहो राजा-धिराजमंत्रिणां विभूतिः' कि राजाधिराज के मंत्री के घर का यह ऐश्वर्य देखिये। क्या ऐश्वर्य बताया ?

> उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानाम् ।
> बटुभिरुपहृतानां वर्हिणां स्तूपमेतद् ।।
> शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिः ।
> विनमितपटलान्तं दृष्यते जीर्णकुड्यम् ।।

अर्थात् एक ओर (गोबर के) कण्डों को फोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है और इधर यह ब्रह्मचारियों द्वारा लायी हुयी कुशा का ढेर है।

सूखने के लिये रखी हुयी समिधाओं से जिसका छप्पर झुक गया है तथा टूटी-फूटी दीवारों से जो सुशोभित है, ऐसा प्रधानमंत्री का आवासीय कुटीर है।

इस ऐश्वर्य में ही हमारे प्रधानमंत्री को रहना है, यदि ऐसा नियम बन जाये, तो मैं समझता हूं कि फिर कोई स्पर्धा नहीं होगी। सारी स्पर्धा का कारण भौतिक सुविधाएं एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का साथ-साथ होना है। इनका यदि विभाजन किया—दोनों को विपरीत अनुपात में (Inverse ratio) में रखा तो सही अर्थ में समानता आ सकती है। यही सच्ची समानता है। हमारे यहां की प्राचीन व्यवस्था का यही आधार है।

पतन के कारण

ये दो दृश्य हमारे सामने हैं। एक तो है हमारी प्राचीन व्यवस्था का और दूसरा आज की समानता के असफल प्रयोगों का। दोनों स्थितियों का तुलनात्मक विवेचन करें। आज अपनी प्राचीन पद्धति को खराब बताया जा रहा है क्योंकि आज हमारी दशा अच्छी नहीं है। अब हम यह विचार करें कि क्या प्राचीन पद्धतियों के खराब होने के कारण गिरावट आ गई या प्राचीन पद्धतियों को छोड़ दिये जाने के कारण गिरावट आ गयी? किसी ने गांधी जी से पूछा—"आप वर्ण-धर्म का नाम लेते रहते हैं, क्या आप यह नहीं मानते कि इस वर्ण-धर्म के कारण समाज में कितने झगड़े खड़े हो रहे हैं?" महात्माजी ने कहा—"आपकी बात तो सही है, बहुत परिवर्तन आया है, बहुत विकृतियां आयी हैं। इनको दूर करना होगा।" तब उनसे फिर प्रश्न पूछा गया—"क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वर्ण-धर्म को ही खतम करना चाहिए?" तो महात्माजी ने कहा कि आप रोग की शल्य-क्रिया कीजिए, रोगी को मार मत डालिए (Operate the disease, But don't kill the patient)। यदि किसी को 'एपेन्डीसाइटिस' हुआ तो क्या इसका एकमात्र रास्ता यह है कि रोगी को ही खतम करो? यह रास्ता नहीं है। रास्ता यह है कि एपेन्डीसाइटिस (अंत्यगुच्छ) का आपरेशन करो। इसी प्रकार जो विकृतियां हमारे समाज में आई होंगी,

सारी विकृतियों को शुद्ध करें। पर मूलभूत सिद्धांत को कायम रखना चाहिए। यह एक बात महात्मा जी ने उस समय कही। कहने का आशय है कि हमें यह देखना पड़ेगा कि हमारे प्राचीन सिद्धांतों के कारण गड़बड़ आयी, या सिद्धांतों में जो विकृतियां आ गईं, उनके कारण गड़बड़ आई। इसका अलग विचार करना होगा।

लेकिन समानता के बारे में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि पश्चिम के लोग इस तरह से भौतिकता के आधार पर समानता नहीं ला सकते। क्योंकि व्यक्ति-विकास और समानता दोनों का मेल वे नहीं बिठा सके। हमारे यहां इसका मेल बिठाया गया है।

वर्गविहीन समाज

दूसरा शब्द उनके यहां आता है Classlessness यानी वर्ग-विहीनता। सब लोगों ने कहा कि हम वर्ग नहीं चाहते। इस 'वर्ग' शब्द का अर्थ क्या है? कार्लमार्क्स ने तो 'वर्ग' शब्द का प्रयोग बड़े तकनीकी अर्थ में किया है। उसका अधिक विवरण तो यहां सम्भव नहीं।

वर्ग-कल्पना

मार्क्स ने कहा कि Haves (सम्पन्न अर्थात् पूंजीपति) और Have nots (विपन्न अर्थात् सर्वहारा) ये दो वर्ग हैं। जिनके पास उत्पादन के साधन हैं, वह एक वर्ग और जिनके पास नहीं हैं, वह दूसरा वर्ग है। इन दोनों में अखंड संघर्ष है। अब यदि इस अर्थ में देखा जाय तो भारत में वर्ग हैं, यह कहना; या दुनिया में कहीं वर्ग हैं, यह कहना, बड़ा कठिन है। मेरी एक साम्यवादी के साथ बातचीत हुई। वे हमारे मित्र भी हैं। मैंने उनसे कहा कि आप लोग बता रहे हैं कि पूंजीपति तथा सर्वहारा दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं। तो यह भी बताइये कि इन दो वर्गों को परिभाषित करने की दृष्टि से सीमा रेखा क्या है? ताकि पता लगे कि उस रेखा के ऊपर पूंजीपति हैं और नीचे के लोग सर्वहारा हैं। उन्होंने कहा कि यह रेखा तो है ही। कुछ तो पूंजीपति हैं और कुछ सर्वहारा। मैंने कहा कि यह ठीक है। लेकिन आप हमें दोनों की बीच की सीमारेखा बताएं। क्योंकि मेरे सामने एक

व्यावहारिक असुविधा है। ये धनी और ये निर्धन यदि हम इसी को लेकर विचार करें तो ५ रु० कमाने वाला चपरासी कहता है कि मैं तो सर्वहारा हूं, लेकिन यह जो बाबू मेज पर बैठ कर लिखता है, जिसको ५० रु० मिलते हैं, वह धनी है। बाबू कहता है कि मैं तो निर्धन हूं, मेरा मैनेजर जिसको ५०० रु० मिलता है वह धनी है। मैनेजर कहता है कि मैं निर्धन हूं। मेरा यह ५००० रु० कमाने वाला मालिक धनी है। अब मालिक कहता है कि मैं तो गरीब हूं केवल ५००० रु० ही कमाता हूं। ये जो टाटा-बिरला करोड़ो रुपये कमाने वाले हैं, ये धनी हैं। अर्थात् हरएक अपने को निर्धन कहता है और दूसरों को धनी। आप मुझे बताइये कि इसमें सीमारेखा क्या है? कितने रुपए के नीचे निर्धन कहेंगे और कितने रुपये के ऊपर धनी कहेंगे? १०० रु० २०० रु० ५०० रु० या १००० रु० कुछ तो बताइये। रात का समय था। उन्होंने कहा देखिये कल इसके बारे में बात करेंगे। मैंने कहा कि ठीक है। दूसरे दिन प्रातः ही आये। मकान में पुकारा तो मैं समझ गया कि वे पूरी तैयारी करके आये हैं। कहने लगे कि ठेंगड़ी जी! कल तो आपने हमें भ्रमित कर दिया। आपने गलत प्रश्न पूछा। मैंने कहा कि कैसे? वे बोले, देखिये! धनी और निर्धन में आमदनी की कोई सीमारेखा नहीं है, सीमारेखा है मालिक और मजदूरकी। यानी जो उत्पादन के साधनों के मालिक हैं, वे सारे धनी वर्ग (Camp) में हैं और बाकी जो उनमें काम करने वाले मजदूर इत्यादि हैं, ये निर्धन वर्ग में हैं। यह सीमारेखा है। फिर मैंने उनको पूछा कि अब तो यह निश्चित हो गया है? अब तो आपको कोई भ्रमित नहीं कर रहा? वे बोले नहीं, यह सीमा-रेखा अन्तिम है। मैंने कहा कि यह तय हो गया कि सारे मालिक एक तरफ और सारे मजदूर एक तरफ हैं। लेकिन अब मेरे सामने कुछ प्रश्न आते हैं। छोटे किसान को धनी वर्ग में गिनेंगे या निर्धन वर्ग में गिनेंगे? क्योंकि उसके पास आधा एकड़ जमीन है। चूंकि उत्पादन के साधन उसके पास हैं। इसलिए वह धनी वर्ग में आ जायेगा। दूसरी बात यह है कि आधा एकड़ जमीन से पूरे परिवार का पालन-पोषण नहीं हो सकता। इसलिए वह दूसरों के यहां

काम भी करता है। वहां वह मजदूर के नाते काम करता है। अतः उस समय मालिक दूसरा रहता है। इस छोटे किसान को धनी कहेंगे या निर्धन ? क्योंकि आंशिक रूप से वह मालिक है और आंशिक रूप से वह मजदूर है। मार्क्स ने तो अपने जीवन के अंत तक इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। अतः आप कृपया इसका उत्तर दीजिए। वे बोले कि यह तो आपने केवल एक श्रेणी (Category) की चर्चा की।

मैंने कहा कि अच्छा ठीक है। अब दूसरा उदाहरण लें। हमारे यहां का एक बहुत बड़ा सेक्टर हमारा विश्वकर्मा सेक्टर है। ये स्वकर्मी (Self Employed) हैं, जैसे बढ़ई, चमार, लोहार, नाई आदि। इनको आप क्या कहेंगे ? ये तो मालिक भी नहीं और नौकर भी नहीं। वे स्वयं अपने मालिक और स्वयं अपने कर्मचारी हैं। उन्होंने कहा आपने तो चार-पाँच लोगों का नाम ले लिया। मैंने कहा कि ये केवल चार-पांच लोग नहीं हैं। हिन्दुस्थान के कई करोड़ लोग स्वकर्मी हैं। इनको कौन से वर्ग में डालेंगे ? उन्होंने कहा कि इसका भी बाद में विचार करेंगे। मैंने कहा कि चलो ठीक है।

फिर मैंने कहा कि जो मजदूर हैं, उनका विचार भी मेरे मन में आता है। मान लीजिए कि मैं किसी फैक्टरी में बाबू का काम कर रहा हूं। मैं १० बजे से ५ बजे तक फैक्टरी में काम करता हूं। अतः वहां मैं मजदूर हूं। मेरा मालिक या मैनेजर होगा, वह धनी वर्ग में रहेगा और मैं निर्धन वर्ग में रहूंगा। लेकिन ५ बजे मैं अपने मकान में आ जाता हूं। अपने यहां रसोई बनाने या झाड़ू लगाने के लिए रखे हुए नौकर को कहता हूं कि जरा एक कप चाय बनाओ, मैं थककर आया हूं। उस समय वह मेरा नौकर बन जाता है और मैं उसका मालिक बन जाता हूं। अब मेरी गिनती कौन से वर्ग में होगी ? आपकी परिभाषा के अनुसार १० से ५ बजे तक तो आप मुझे विपन्न वर्ग में रखेंगे और सायं ५ बजे से दूसरे दिन प्रातः १० बजे तक मुझे सम्पन्न-वर्ग में रखेंगे। और यदि दोनों वर्गों में लड़ाई शुरू हो जाय तो मैं किधर रहूंगा ? क्या १० बजे से ५ बजे तक तो मैं इधर से तलवार इत्यादि

लेकर लड़ाई करूंगा और ५ बजे से दूसरे दिन के १० बजे तक उधर बन्दूक आदि लेकर लड़ूंगा ? मेरी क्या भूमिका रहेगी ? उन्होंने कहा कि आपने तो अपवादजनक परिस्थितियों के उदाहरण बताये। मैंने कहा कि अपवाद नहीं, ये वस्तु-स्थितियां हैं, जो सर्वत्र चल रही हैं।

वर्ग-कल्पना मिथ्या

संक्षेप में मेरे कहने का आशय यह है कि तकनीकी दृष्टि से वर्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह कवि की कल्पना मात्र है। यह बात तो ठीक है कि तरह-तरह के स्वार्थ हैं और उनमें परस्पर विरोध भी निर्माण हो सकता है। लेकिन वर्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है। विभिन्न श्रेणियां हैं, जिन्हें आज नष्ट करना होगा।

'वर्ग' का प्रचलित अर्थ

लेकिन यदि हम ऐसा मान लें कि वर्ग शब्द का उपयोग समाज में अलग-अलग विभागों (Divisions) को बताने के लिए किया गया है तो मैं कहना चाहूंगा कि हमारे यहां भी विभाग थे। श्रम विभाजन था। जहां भी समुन्नत समाज होगा, वहां श्रम-विभाजन होगा ही। क्योंकि एक ही आदमी सब काम नहीं कर सकता।

अब हम इसका विचार करें कि लोग कहीं भी वर्गविहीनता ला सके हैं क्या ? यह स्पष्ट है कि नहीं ला सके। जैसा मैंने कहा कि साम्य-वादी देशों में भी शासक एवं शासित वर्ग है। रूस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री खुश्चेव का एक लेख छपा था। उसमें उन्होंने कहा था कि बचपन में भी लोगों के दिमाग में वर्ग-भेद का भाव आता है। इसको कैसे दूर करना— यह समस्या मेरे सामने है। उन्होंने लिखा कि रूस के विद्यालयों और महाविद्यालयों में जो मध्यावकाश होता है, उस समय पेड़ के नीचे या और कहीं बाहर बाग इत्यादि में आपस में झुंड बनाकर लड़के बैठ जाते हैं। प्रशासकों और वैज्ञानिकों के लड़के अलग अलग झुंड बनाते हैं और साधारण श्रमिक और किसान के लड़के अलग झुंड बनाते है। बचपन से ही यह वर्ग-भाव आता है। इसको कैसे दूर किया जाये ? यह बात खुश्चेव ने कही।

यानी वहां वर्ग हैं और वर्ग-भेद का भाव भी है, इसमें कोई संदेह नहीं। उन्होंने भी इसे स्वीकार किया है। वहां वर्गविहीनता नहीं आई, वर्ग-विहीन समाज निर्माण नहीं हुआ।

हिन्दू वर्ग-विहीनता

पर हमारे यहां एक दूसरे प्रकार की वर्ग-विहीनता थी। यहां मैं वर्ग का तकनीकी अर्थ छोड़ रहा हूं। सामान्य अर्थ में लोग जिसको वर्ग कहते हैं, उस अर्थ में वर्ग-विहीनता अपने यहां थी। अपने यहां हरएक को वर्ग-विहीनता के लिए अधिकारी नहीं माना गया था। सबके लिए यह अधिकार नहीं दिया गया कि तुम वर्ग-विहीन बनो ही। लेकिन जो परिपक्व बन जाते हैं जिनकी आंतरिक प्रगति हो चुकी होती है, उनके लिए हमारे यहां वर्ग-विहीनता रखी गयी। इस वर्ग-विहीनता का दूसरा समकक्ष उदाहरण दुनिया में और कहीं नहीं मिलेगा। अधिकारी लोगों को कहा गया है कि तुम्हारा कोई वर्ग नहीं। तुम केवल श्रेष्ठ मानव के नाते रहो और तुम्हारी जो भी पुरानी वर्ग-भावना हो, उसको छोड़ दो (मैं यहां वर्ग शब्द का उपयोग सामान्य अर्थ में कर रहा हूं, तकनीकी अर्थ में नहीं) सब भूल जाओ। जाति का नाम भूल जाओ। वर्ग का नाम भूल जाओ। कुल का नाम भूल जाओ। व्यक्ति का नाम भूल जाओ। माता पिता का नाम भूल जाओ। तुम सन्यासी हो। यह सन्यासी 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' याने त्रैलोक्य का नागरिक (Not only world citizen, but citizen of the Universe) बन जाता है। किसी संन्यासी के पूर्वाश्रम का आपको पता नहीं चलेगा। उसका कोई कुल नहीं है। उसकी कोई मां नहीं है। उसका कोई पिता नहीं है। ऐसे जो विश्व-नागरिक थे उनकी वर्ग-विहीनता का एक ज्वलंत आदर्श हमारे यहां था। किन्तु यह अनधिकारी के लिए नहीं था। हरएक मनुष्य को उस श्रेणी में नहीं लाया गया। पहले देखा जाता था कि वास्तव में उसकी आन्तरिक जागृति (Consciousness) उतनी बड़ी है क्या? उसकी आत्मा का विकास उतना हुआ है क्या? समाधानकारक स्थिति में ही उसको

केशव माधव पु...
सोमनाथ मन्दिर के पास, पाली

सन्यास दिया जाता था। लेकिन एक बार आप संन्यासी बन गए फिर किसी को यह पता नहीं चलता कि आप पहले ब्राह्मण थे या अनुसूचित जाति के। किसी को किसी संन्यासी की जाति के बारे में पता नहीं रहता। वह पूर्वाश्रम का नाम भी भूल जाता है। इस प्रकार वे विश्व के नागरिक बन जाते हैं, ब्रह्माण्ड के नागरिक बन जाते हैं।

कुछ विशेष शर्तों के साथ और कुछ संशोधनों के साथ, कुछ परहेज (पथ्य) रखते हुए, वर्ग-विहीनता का अस्तित्व हमारे यहां है, और कहीं नहीं। बाकी जगह यह हो नहीं सका। हमारे यहां यह आध्यात्मिक अधिकार-भेद के आधार पर है। जैसे ही किसी का आध्यात्मिक अधिकार बन जाता है और वह संन्यास आश्रम में जाता है, वह एकदम विश्वनागरिक बन जाता है, इससे न्यून नहीं।

शासन-विहीन समाज

अब तीसरी बात आती है। साम्यवाद के प्रणेता कार्ल मार्क्स और अराजकतावाद के प्रणेता बाकूनिन आदि ने समाज की अन्तिम अवस्था शासनविहीनता (Statelessness) की अवधारणा प्रस्तुत की है। साम्यवाद और अराजकतावाद की उच्चतम स्थिति (Highest stage) में शासन-विहीन समाज-रचना इच्छित है। क्या आज ये प्रगतिशील और साम्यवादी लोग शासन-विहीनता की ओर बढ़ रहे हैं? इसका हम जरा विचार करें। ऐसा दिखाई देता है कि उनकी प्रवृत्ति शासन को अधिक सुदृढ़ और अधिक तानाशाही की ओर बढ़ने वाला बनाने की है। केवल उनकी ही ऐसी प्रवृत्ति है, इस प्रकार का दोष मैं उनको नहीं दूंगा। क्योंकि यदि कल मेरे भी हाथ में शासन आ जायेगा तो मेरी भी यही प्रवृत्ति बनेगी। आज मेरे हाथ में सत्ता नहीं, इसलिए मैं धर्म का प्रवचन कर सकता हूं। जो जंगल में है, वह तो ब्रह्मचारी ही रहेगा। क्योंकि ब्रह्मचारी रहने के अलावा उसके पास और कोई विकल्प नहीं है। किन्तु जब स्खलन का अवसर प्राप्त होता है, तब किसका स्खलन नहीं होता, यह देखना पड़ेगा। आज तो हम सब श्रेष्ठ पुरुष है, क्योंकि हमारे हाथ में सत्ता नहीं। इसके

[illegible] हम चाहें तो भी सत्ताजन्य दोष हमारे पास नहीं आ सकते। किन्तु सत्ता का वैशिष्ट्य (Characteristic) है। वह वैशिष्ट्य कौन-सा है? सत्ता का पहला वैशिष्ट्य यह है कि वह आत्म-चिराधिकार (Self-perpetuation) करने वाली होती है। 'आत्म-चिराधिकार' का अर्थ है कि जिसके हाथ में एक बार सत्ता आती है, उसकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह सत्ता मेरे हाथ में अखंड रूप से कायम रहे।

अब कोई कहेगा कि इसमें अपवाद है कि नहीं? अपवाद बहुत थोड़े हैं। कनफ्यूशियस ने एक आदर्श रखा था कि 'दार्शनिक राजा और राजा दार्शनिक' हो। जो दार्शनिक है, उसी को राजा बनाना चाहिए और जो राजा है, उसको दार्शनिक बनना चाहिए? लेकिन कनफ्यूशियस अकेला पड़ गया। क्योंकि ऐसे थोड़े से ही उदाहरण हैं। जैसे रोमन सम्राट डायोक्लेशियन या मार्क्स आरेलियस का बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है। वे एकदम अनासक्त थे। एक महान साम्राज्य उनकी अधीनता में था, लेकिन उनको कोई आसक्ति नहीं थी। सम्राट् चार्ल्स का भी ऐसा उदाहरण है। अपने यहां जनक आदि भी ऐसे हो गए जो राजा होते हुए भी ऋषि थे। इसलिए उनको राजर्षि कहा गया। किन्तु ऐसे ठोस उदाहरण थोड़े ही हैं।

सत्ता की विशेषताएं

लेकिन आमतौर पर ऐसा दिखाई देता है कि जो साधु संत या महात्मा होते है, अनासक्त होते हैं, वे शासक नहीं बनते; और जो शासक बनते हैं वे, साधु-संत-महात्मा रहते नहीं। एक बार हाथ में सत्ता आने के बाद सत्ता को अपने हाथ में बनाये रखने का विचार हरएक के मन में आता है। सत्ता को टिकाये रखने का विचार शासन के कर्तव्यपालन से भी अधिक प्रबल होता है। यह एक वैशिष्ट्य है। हम साम्यवादी देशों को ही दोष नहीं देना चाहते। यह सर्वसाधारण प्रवृत्ति है।

दूसरा वैशिष्ट्य है कि सत्ताधीश सत्ता के दायरे को विस्तृत करते जाना चाहता है।

इस कारण सत्ताधीशों का सत्ता पर चिर-अधिकार (Self-perpetuation) न हो, यह व्यवस्था आवश्यक है। सत्ता का दायरा वह अनियंत्रित और अनिर्बंध न बढ़ा सके, यह व्यवस्था भी आवश्यक है। यह व्यवस्था किसी भी पश्चिमी तंत्र में नहीं हैं। लोकतंत्र में भी ऐसी कोई ठोस व्यवस्था नहीं है, जो इस दृष्टि से बिलकुल निश्चित रूप से सफल हो सकेगी। लोकतन्त्र की व्यवस्था इसमें सफल भी हो सकती है और असफल भी हो सकती है। इसी कारण मतपत्र के माध्यम से हिटलर की तानाशाही का निर्माण हो सका। साम्यवादी देशों की तो बात ही छोड़िये।

तानाशाही से शासन-विहीनता ?

एक कहावत है 'सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट करती है, और अबाध सत्ता पूर्णटया भ्रष्ट कर देती है' (Power corrupts, absolute power corrupts absolutely)। अब इस दृष्टि से कोई रोध या संतुलन (Checks and balances) प्रगतिवादी लोगों के पास नहीं। साम्यवादियों ने तो यह कहा है कि हमारे यहां तो तानाशाही हैं। तानाशाही का अर्थ होता है कि 'सब कुछ राज्य के अंतर्गत हैं, सब कुछ राज्य के लिए है, इसकी परिधि के बाहर कुछ नहीं है' (Every thing for the State; Every thing within the State; nothing outside the State)। हाथ में ऐसी तानाशाही (निरंकुश सत्ता) आने के बाद कोई यह सोचे कि राज्य अस्तित्व-विहीन हो जायगा, (State will wither away) स्वयं नष्ट हो जायेगा, तो यह गलत होगा। वे तो अपनी शक्ति और अधिक सुदृढ़ बानाना चाहेंगे। अपनी शक्ति का दायरा बढ़ाना चाहेंगे। अपनी शक्ति को स्थायी करना चाहेंगे। ये सारी बातें इसमें आती हैं। लेकिन उन्होंने आदर्श रखा है 'शासन-विहीन समाज-रचना' का।

समाज व्यवस्था में शासन का स्थान

हमारे यहां शासन की सीमाओं के बारे में सोचा गया है। आज तो हमारे देश में शासन का महत्व बहुत ही अधिक माना जाता है। अपने भी कुछ लोग शायद शासन को बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। क्योंकि अपना

स्वराज्य नया-नया है। हमें स्वराज्य का बहुत दिन का अनुभव नहीं था। फिर लोकतंत्र भी नया-नया आया है। और इस लोकतंत्र में हरएक को लगता है कि मैं शासन को बना सकता हूं व बिगाड़ सकता हूं। इसके कारण कुछ नयी शक्तियां (Powers) अपने हाथ में आयी हैं, यह भी अनुभव हो सकता है। जहां चिरकाल से स्वराज्य चलता आया है, वहां के लोगों के लिए स्वराज्य एक प्रकृतिगत बात है। किन्तु ऐसे देश में जहां स्वराज्य शताब्दियों से नहीं था नया-नया आया है, वहां लोगों को राज्य और शासन के विषय में बहुत आकर्षण निर्माण होना, यह एक स्वाभाविक बात है। इसके कारण लोगों के मन में शासन संस्था का अतिरेकी महत्व निर्माण हो सकता है।

हमारे कुछ मित्र हैं। वे कहते हैं कि सब कुछ शासन के माध्यम से होगा। यानी राष्ट्र-निर्माण कार्य भी सरकार के द्वारा होगा। कुछ मित्रों ने यह भी कहा कि संघ कार्य चलाना व्यर्थ है। १९४७ के पहले यह ठीक था। आज इसका क्या महत्व है? मैंने पूछा क्यों? इस पर वे बोले कि अब तो स्वराज्य आ गया है। मैंने कहा कि इससे इसका क्या सम्बन्ध हुआ? उन्होंने कहा कि मालूम होता है कि आप अधुनातन नहीं हो २५ वर्ष पीछे हो। मैंने कहा—"क्यों"? वे बोले—"आपको पता नहीं कि स्वराज्य आ गया, लोकतंत्र आ गया, अब तो सब काम राज्य के द्वारा ही होगा। अब इस सारे दक्ष-आरम की क्या आवश्यकता है? इसे सरकार पर छोड़िये।" मैंने कहा इसका नतीजा क्या होगा? क्या इसके बारे में सोचा है? यदि हम हर दायित्व सरकार को सौंप देते हैं, तो फिर हर चीज में सरकार का अधिकार भी मान्य करना होगा। और यदि राष्ट्र-निर्माण का कार्य भी सरकार के माध्यम से ही होने वाला होगा तो फिर सरकार तानाशाह बनेगी। क्या हम इस अवस्था को पसन्द करते हैं?

राष्ट्र के जीवन मरण की समस्या

इससे भी बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राष्ट्र को जीवित रहना है या मरना है? तो उन्होंने कहा इसमें जीवित रहने या मरने का प्रश्न

ही कहां आता है ? मैंने कहा कि जरा दूर-दृष्टि से विचार करेंगे, तो यह प्रश्न इसमें नजर आयेगा। इतिहास की प्रक्रिया हमें बताती है कि राज्य और राष्ट्र के परस्पर क्या संबंध रहे ? यदि आज हम हिन्दुस्थान के बाहर दुनिया का इतिहास देखेंगे तो ऐसा दिखाई देगा कि कई राष्ट्र निर्माण हुए, विकसित हुये, चरम सीमा तक विकसित हुए। हम जानते हैं कि किसी भी कालखंड में भौतिक प्रगति की जो चरम सीमा (Highest level) होगी उसका संकेत करने के लिए सभ्यता (Civilization) शब्द का उपयोग किया जाता है। किसी भी एक कालखंड में भौतिक प्रगति या साधनों की चरम सीमा जिस राष्ट्र ने प्राप्त की होगी उस राष्ट्र का नाम विश्व सभ्यता (World civilization) को दिया जाता है। इस दृष्टि से जिनका नाम विश्व सभ्यता को भिन्न-भिन्न काल खंडों में प्राप्त हुआ, भौतिक प्रगति की दृष्टि से जिन्होंने दुनिया का नेतृत्व किया, एसे कई राष्ट्र निर्माण होने के बाद नष्ट भी हो गए। वह खाल्दिया कहां है ? बेबीलोनिया कहां है ? असीरिया कहां है ? फारस कहां हैं ? सुकरात का वह यूनान कहां है ? आज का जो यूनान है, वह सुकरात का उत्तराधिकारी नहीं। वह जूलियस सीजर का रोम कहां है ? आज का इटली जूलियस सीजर के रोम का उत्तराधिकारी नहीं। फारोआ राजाओं का मिस्र कहाँ है ? आज का ईजिप्ट फारोआ राजाओं के मिस्र का उत्तराधिकारी नहीं। मिस्र, रोम, ग्रीस, फारस, खाल्दिया, बेबीलोनिया, असीरिया—ये सारे राष्ट्र एक बार इतने उन्नत हो गए और फिर नष्ट हो गये। नष्ट क्यों हो गये ? सबके इतिहास में एक समान बात दिखाई देती है कि उनकी समाज रचना में शासन-संस्था (Government) का महत्व बढ़ गया और समाज का जीवन शासनाभिमुख हो गया। सपूर्ण समाज-जीवन का प्रवाह शासन के इर्द गिर्द-बहने लगा। ऐसी अवस्था में, चाहे आन्तरिक विघटन के फलस्वरूप हो या बाह्य आक्रमण के फलस्वरूप, किसी भी कारण से क्यों न हो, जैसे ही यह शासन संस्था टूट जाती है, वैसे ही उसके सहारे चलने वाला समाज-जीवन नष्ट हो जाता

है। यह बात सब देशों के इतिहास की है। अगर पेड़ के सहारे बेल ऊपर चढ़ती है और किसी कारण पेड़ नीचे गिर जाता है तो उसके सहारे चढ़ी हुई बेल भी नीचे गिर जाती है। उसी तरह यदि समाज जीवन शासनाभिमुख, शासनावलम्बी, शासन केन्द्रित रहा तो जब किसी भी कारण से शासन टूट जाता है तो वह राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रक्रिया में खाल्दिया, बेबीलोनिया, असीरिया, रोम, ग्रीस, मिस्र, फारस ये सारे नष्ट हुए।

समाज केन्द्रित शासन : शासन केन्द्रित समाज नहीं

लेकिन इस हिन्दुस्थान का राष्ट्र-जीवन बड़ा विचित्र रहा है, क्योंकि वह शासनावलम्बी, शासन-केन्द्रित नहीं रहा। यहां स्वायत्त याने स्वयंशासित समाज-रचना रही। 'कोऊ नृप होय हमें का हानि'—यह यहां अच्छे अर्थ में भी बताया जा सकता था। हमारे ऊपर कोई भी राज्य करे, लेकिन हमारा जो समाज जीवन था, वह वैसे का वैसा चल रहा था। हरएक व्यक्ति के और हरएक व्यक्ति-समूह के जो नियम थे, कर्त्तव्य थे, उनका पालन अक्षुण्ण चलता था और सब व्यक्ति और व्यक्तिसमूह धर्म का पालन करते थे। यहां तक कि पराये लोगों ने यहां आक्रमण किये, यहां अपना शासन चलाया तो उनके शासन में रहते हुए भी हमारे व्यक्ति-धर्म और व्यक्ति-समूहों के धर्म में व्याघात नहीं आया। यहां का स्वायत्त स्वयं-शासित समाज-जीवन अक्षुण्ण चलता रहा और जहां हिन्दुओं का ही शासन रहा वहां उस काल में समाज या राष्ट्र शासन-केन्द्रित नहीं रहा, अपितु शासन समाज-केन्द्रित रहा।

साध्य-साधक विवेक

हिन्दुस्थान के बाहर यह माना गया है कि शासन साध्य है और समाज साधन है। किन्तु हिन्दुस्थान में सदा यह माना गया है कि समाज साध्य है और शासन उसके अनन्त साधनों में से एक साधन है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार यहां समाज शासनाभिमुख, शासनावलम्बी, शासन-केन्द्रित नहीं रहा, बल्कि शासन समाजाभिमुख, समाजावलम्बी व समाज-केन्द्रित रहा। इसके कारण शासन आये और गये, किन्तु समाज का जीवन अक्षुण्ण चलता

रहा। समाज व राष्ट्र के जीवन पर इसके कारण कोई आघात नहीं हुआ। अंग्रेजी में Brook नामक एक कविता है। उसमें Brook (निर्झर) कहता है कि—

Men may come and men may go,
But I go on for ever.

अर्थात् मनुष्य आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु मैं सदा के लिये चलता रहता हूं। उसी प्रकार हमारा कहना है—

Governments may come and Governments may go,
But the Hindu Nation goes on for ever.

अर्थात् शासन आयेंगे और नष्ट हो जायेंगे, किन्तु यह हिन्दू राष्ट्र, यह समाज सनातन-काल से चलता आया है और चिरंतन-काल तक चलता रहेगा।

राष्ट्र और राज्य या समाज और राज्य के क्या संबंध रहें, यह केवल मतदान का प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्र को चिरंतन रहना है, या खाल्दिया-बेबीलोनिया की सूची में शामिल होना है, ताकि ऐसा इतिहास लिखा जाय कि 'किसी समय हिन्दू राष्ट्र था'। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन है। पहले भी था, आज भी है और सदा रहेगा। यदि हम इस अवस्था को चाहते हैं तो यह राष्ट्र और समाज-जीवन के शासन-निरपेक्ष और स्वायत्त याने स्वयंशासित होने की आवश्यकता है। इसके अनंत साधनों में से एक साधन के नाते शासन रहे। इससे अधिक नहीं। नहीं तो राष्ट्र चिरंतन नहीं हो सकता और वह भी 'कभी था' में शामिल हो जायगा। हमें इसका विचार करना होगा।

रोध और सन्तुलन

फिर उन्होंने अपने सामने शासन-विहीनता का आदर्श तो रखा है किन्तु सत्ता के जो अंगभूत दोष हैं उनके बारे में कोई रोध और प्रतिसन्तुलन (Checks and balances) का पूरा प्रभावी विचार नहीं किया। आत्म-चिराधिकार (Self perpetuation) और अधिनायकवादी निरंकुश प्रवृत्ति (Dictatorial authoritarian

itendency) —इन दोनों का हमारे पुराने लोगों ने, चाहे उनको प्रगतिशील भले ही न कहा जाय, विचार किया और बहुत से रोध और प्रतिसन्तुलनों की व्यवस्था की । एक तो हमारे यहां शासन संस्था को कभी सर्वोच्च माना ही नहीं गया। हमारे यहां समाज का नेतृत्व शासन ने कभी नहीं किया । फिर शासन का भी नेतृत्व करने वाले जो लोग थे, उनके कुछ विशेष गुण थे । इनका अपना कोई वर्ग नहीं, इनकी अपनी कोई श्रेणी नहीं, कोई गुट नहीं, कोई धड़ा नहीं। 'अयं निजः परो वेत्ति, गणना लघु चेतसाम् । उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।' यह मेरा है, यह पराया है—यह निम्न भाव इनके मन में नहीं होता था। ये ऐसे लोग थे जो आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ उच्च स्थिति प्राप्त करते थे और जो सम्पूर्ण समाज के और संपूर्ण मानवता के हित का विचार कर सकते थे । सभी बातों का सम्यक्, संतुलित विचार करने के लिए आवश्यक आत्म-प्रगति ये कर चुके होते थे। ये भौतिक बातों को तुच्छ समझते थे । इसलिए नहीं कि भौतिक बातों की प्राप्ति असंभव है बल्कि भौतिक बातों को प्राप्त करना तुच्छ बात है, ऐसा समझ कर ये इधर से मुंह मोड़कर जंगलों में, गिरि-गह्वरों में वास करने वाले थे । ये लंगोटी लगाने वाले थे । जिनका कोई वर्ग नहीं, जिनके पास अर्थसत्ता नहीं, जिनके पास शासकीय सत्ता नहीं—ऐसे लोग समाज के नेता थे । नैतिक नेता थे। समाज का विधान बनाने का काम राजा के हाथ में नहीं था। इन लंगोटी लगाने वालों के हाथ में था। उन्होंने समाज का विधान बनाया। विधान में सबके लिए उनका अपना कर्त्तव्य बताया गया। यहां तक कि वे शासन-संस्था के लिए भी कर्त्तव्य निर्धारित करते थे । जो 'राजधर्म' कहलाता था । राजा के कर्त्तव्य का बोध भी यह लंगोटी वाला कराता था। जिसके हाथ में शासन नहीं, जो पंचायत परिषद का भी अध्यक्ष नहीं, वह सम्राट को बतायेगा कि तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है। यह रोध एवं संतुलन हमारे यहां थे। समाज की नैतिक सत्ता एक ओर, शासनसत्ता एक ओर । अर्थ सत्ता एक ओर, संस्था बल एक ओर । इस

प्रकार सत्ता का विभाजन किया गया । इसमें नैतिक सत्ता को सर्वोच्च माना गया। कितना सर्वोच्च ? इसकी तो आज कल्पना करना भी कठिन है ।

'त्वं बाल एवासि'

मैं जब महाविद्यालय में पढ़ता था तो एक उदाहरण आया कि रामचंद्र जी का राज्याभिषेक होने जा रहा है । वशिष्ठ नामक कोई लंगोटी वाला उनको बताता है कि देखो, तुम्हारा राज्य तुम्हारे हाथ में आयेगा, किन्तु जरा संभल कर काम करना "त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम् ।" नवम् च राज्यम् का अर्थ है प्रशासन तुम्हारे लिये नया है । (Science of administration is new to you) अब 'त्वं बाल एव असि' । संस्कृत में बाल शब्द के दो अर्थ होते हैं। बाल का अर्थ छोटा और मूर्ख दोनों होता है । होने वाले राजा को यह लंगोटी वाला बताता है कि तू बाल है अर्थात् मूर्ख भी है और बच्चा भी है, यह प्रशासन का शास्त्र तुम्हारे लिए नया है, अतः जरा संभल कर काम करो । तो उस समय भी मेरे साथ में बैठे हुए मेरे सहपाठी ने कहा कि क्योंजी ! क्या आज किसी के मन में ऐसा कहने का साहस हो सकता है ? यह प्रश्न मन में आता है ।

चक्रवर्ती धर्म दण्ड्य, अदण्ड्य नहीं

यह विभाजन कितना प्रभावी था, इसका एक और उदाहरण है । कुछ पराक्रमी राजा अपना पर्याप्त राज्य विस्तार कर लेते थे। और उनका अभिषेक चक्रवर्ती राजा की तरह होता था । चक्रवर्तित्व का अभिषेक पूरा होने में एक अंतिम प्रक्रिया होती थी। इसमें क्या होता था ? जनता का दरबार बैठता था । होने वाला चक्रवर्ती (जो लगभग हो चुका होता था) अपने साम्राज्य सिंहासन पर विराजमान होता था। उसके पास हाथ में पलाश-दण्ड लेकर एक लंगोटी वाला खड़ा होता था । होने वाला चक्रवर्ती सम्राट सबके सामने तीन बार कहता था 'अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि' याने मुझे कोई सजा नहीं दे सकता । और उसके बाद यह लंगोटी वाला तीन बार पलाश-दण्ड उसकी पीठ में मारकर कहता है

कि 'धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि' यानी तुम अदंड्य नहीं हो, धर्म तुम्हें दण्ड दे सकता है । इसके बाद ही उसके चक्रवर्तित्व का अभिषेक पूरा हो गया, ऐसा माना जाता था ।

याने यहां शक्ति-विभाजन और रोध एवं संतुलन का विधान था। इसके कारण राजा को मुख्य कार्यकारी अधिकारी माना गया था, इससे अधिक नहीं । उस समय के राजा की स्थिति आज की स्थिति नहीं थी । वर्णाश्रम धर्म प्रतिपालक था । राजा प्रजानुरंजनात् होता था—इससे अधिक उसका कोई महत्व या कार्य नहीं था। यह कहा गया कि वह 'षष्ठांश भोगी भृत्यः' यानी आय का छटा भाग वेतन के रूप में ग्रहण करने वाला भृत्य है, स्वामी नहीं ।

हमारे राष्ट्र और समाज के जीवन में शासन-संस्था का क्या स्थान था, इससे इसका पता चलता है । कारण, शासन का वह महत्व हिन्दू समाज के लिए स्वाभाविक नहीं है, जो स्वराज्य के नये होने के कारण आज लोग गलती से देते हैं ।

अतिरिक्त आसक्ति का कारण

इस विषय में एक सज्जन ने कहा कि शासन को अत्यधिक महत्व देने (Exaggerated importance) का कारण है । मैंने कहा कि जिनके हाथ में सदा से स्वराज्य रहा, उनको तो इसका अत्यधिक महत्व लगता नहीं । वे बोले कि बहुत दिनों तक यह स्वराज्य अपने हाथ में नहीं था, अब यह नया-नया मिला है, इसलिये इसका महत्व अधिक है । उन्होंने उदाहरण दिया कि जिनका स्वाभाविक अवस्था में विवाह हो जाता है, वैवाहिक जीवन के बारे में उनकी आसक्ति साधारण होती है । लेकिन जो बहुत दिनों तक जबरदस्ती ब्रह्मचारी रहते हैं और जिनका बहुत देरी से विवाह होता है, उनके मन में वैवाहिक जीवन के बारे में असाधारण आसक्ति हो जाती है। राज्य के बारे में भी ये जो असाधारण आसक्ति दिखाई देती है, उसका भी यही कारण होगा ।

वानप्रस्थाश्रम का महत्व

प्राचीन काल के जीवन-मूल्यों का हम आज विचार करें तो कल्पना करना भी कठिन होता है। रघुवंश के बारे में जो हम यह सुनते हैं, वह केवल रघुवंश की ही बात ही नहीं बल्कि सभी के बारे में थी कि:

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।

याने सारा शासन इत्यादि जुटाने के बाद वार्धक्य आ गया तो वानप्रस्थाश्रम ले लिया । सब छोड़ दिया । अब कल्पना कीजिए कि यदि यह वानप्रस्थाश्रम का नियम प्रचलित हो जाय तो इसका क्या प्रभाव पड़ेगा । अगर यह हो जाय कि चाहे उद्योगपति हो, चाहे राजनीतिज्ञ, विशेष समय के बाद सब को वानप्रस्थाश्रम लेना होगा—तो यह प्रतियोगिता बहुत कम हो जायेगी ।

कुछ विचित्र उदाहरण : भरतभेंट

इसके फलस्वरूप कई विचित्र उदाहरण अपने देश में मिलते हैं । भरत को ही लें । उसको शासन मिल गया । किन्तु वह हाथ में आया हुआ राज्य अपने बड़े भाई को समर्पण करने के लिए अपनी सेना इत्यादि लेकर पैदल चित्रकूट जाता है। कैसी मूर्खता है ? कोई भी सामान्य राजनीतिज्ञ इसको मूर्खता कहेगा । वह कहेगा अरे भाई ! हम तो इतना परिश्रम करते हैं राष्ट्रपति बनने के लिए और तुम्हारे हाथ में राज्य आ जाने पर तुम उसको दूसरे के हाथ में देने के लिए इतना लम्बा प्रवास करके जा रहे हो । कोई सामान्य मनुष्य भी आज इतनी मूर्खता (?) का व्यवहार नहीं करेगा । लेकिन यह व्यवहार हमारे यहां हुआ है।

राजनीति : खेडापरिवार

हमारे यहां उदाहरण है गुरु गोविन्द सिंह का । वे जिस समय राजनीति में आये या उनको आना पड़ा—तो उन्होंने भगवान से कहा (क्योंकि उस समय उनको शासन भी चलाना पड़ा, वह योद्धा भी थे, शासक भी थे) कि भगवान ! तुमने मुझे इस राजनीति में क्यों डाला ? मुझे इस खेड़ा परिवार

में क्यों डाला ? यहां तो मेरा मन लग नहीं रहा।

आप सबको हीर और रांझा की कहानी मालूम होगी। उस लड़की का विवाह खेड़ा परिवार में किया गया था। उसका मन वहां नहीं रमता था। इसलिए पंजाबी में जो गीत है, उसमें वह लड़की कहती है कि मुझे क्यों खेड़ा परिवार में डाला है। मेरा मन वहां है यहां नहीं। गुरु गोविन्द सिंह जी ने राजनीति के बारे में कहा है कि मुझे क्यों इस खेड़ा परिवार में डाला। मैं नहीं समझता कि आज कोई ऐसा कहने की मूर्खता करेगा। आज तो अधिकतर लोग इसी परिवार में आना चाहते हैं।

शिवाजी का राज्य समर्पण

छत्रपति शिवाजी का उदाहरण है। उन्होंने राज्य प्राप्त किया और फिर उनके दिमाग में क्या सनक आ गई कि जैसे ही समर्थ स्वामी रामदास भिक्षा मांगने आ गये तो उन्होंने चिट्ठी लिख दी कि अपना राज्य आपको अर्पण करता हूं। अब सन्यासी के सामने भी यह प्रश्न आया—यह राज्य अर्पण कर रहा है, मेरा तो यह धन्धा नहीं, मैं इसे कैसे चलाऊं ? तो अन्त में मध्यम मार्ग निकला कि ठीक है, तुम भी राजा नहीं, मैं भी राजा नहीं, यह भगवा ध्वज है—अपना राष्ट्र-ध्वज है—इसके प्रतिनिधि के रूप में तुम शासन चलाओ।

किन्तु अर्जित राज्य एक सन्यासी की झोली में डालने के लिए कितना पागलपन आवश्यक है, इसका हम विचार करें। यह अपनी परम्परा से आया हुआ पागलपन है।

कुन्ती का धर्मप्रवचन

महाभारत में एक बहुत अच्छा उदाहरण आता है। महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। तत्पश्चात् धृतराष्ट्र वन में जाने के लिए निकले। गांधारी ने भी जाने की तैयारी की। पांचो पांडव हाथ जोड़कर खड़े हो गये और कहने लगे कि चाचा जी! जो हो गया सो हो गया। दुर्योधन मानता ही नहीं था—आपकी भी नहीं मानता था, हमारी भी नहीं मानता था—हमारी इच्छा नहीं थी। इस सबके परिणामस्वरूप हमारा सम्पूर्ण

क्षय हो गया। लेकिन अब जो अवस्था आई है, इसमें आप भी चले जावेंगे तो क्या होगा ? हमारे परिवार में आपके अतिरिक्त और कौन ज्येष्ठ है ? आप ही तो हमारे सब कुछ हैं। धृतराष्ट्र ने कहा कि ठीक है बेटा ! तुम्हारी सब भावना इत्यादि मैं समझता हूं । लेकिन मेरे लिए जंगल में जाना ही अच्छा है।

जब उन्होंने निश्चय कर लिया तो माता कुन्ती ने भी अपना बोरिया-बिस्तर बांधना शुरू किया। युधिष्ठिर और बाकी पांडव भी वहीं थे। उन्होंने माता को कहा कि यह तो बड़ी अजीब बात है। हम तो पांचों लड़ाई ही नहीं करना चाहते थे। जो कुछ मिल जाता उसी में अपना जीवन बिता सकते थे। तुम्हीं ने हमको राज्य प्राप्ति के लिए लड़ाई करने के लिए बाध्य किया, प्रोत्साहित किया, प्रेरित किया। अब जब राज्य प्राप्त हो गया है, तब हे माता ! तुम जंगल में जा रही हो। यह क्या ?

उस समय कुन्ती कहती है कि यह बात सही है कि तुम्हारी इच्छा नहीं थी। मैंने ही तुमको राज्य प्राप्ति के लिए लड़ने को प्रोत्साहित किया। किन्तु तब वही कर्त्तव्य था। यदि तुम कर्त्तव्य के नाते राज्य प्राप्त न करते, उसका अर्थ यह होता कि तुमने कर्त्तव्य में भूल की है। अतः अपने धर्म, अपने कर्त्तव्य और राज्यप्राप्ति के लिए लड़ाई लड़ने को मैंने तुमको प्रोत्साहित किया। किन्तु अपने पुत्रों के राज्य का लाभ और उपयोग मैं लूं, यह भावना मेरे मन में नहीं आ सकती। उस समय राज्य-प्राप्ति के उद्देश्य से लड़ाई के लिए तुमको प्रोत्साहित करना मेरा धर्म था। वही धर्म के अनुकूल था। और अब जबकि धृतराष्ट्र वन में जाने के लिए निकले हैं, उनके साथ जाना मेरा धर्म है—इसलिये उनके साथ जा रही हूं।

हम सोचें कि यदि हम लोग कुन्ती के स्थान पर होते तो क्या ऐसा व्यवहार करते ?

स्वायत्त स्वयंशासित समाज

आज तो हम उल्टा व्यवहार कर रहे हैं। जिनके हाथ में शासन

आता है, उनके साथ जबरदस्ती अपना रिश्ता जमाने के लिए हम प्रयत्न करते हैं। कुन्ती के जैसा पागलपन का व्यवहार आज नहीं हो सकता। इसमें से यह बात ध्यान में आती है कि शासन तंत्र को हम अपनी समाज-रचना में कितना स्थान देते हैं ?

इस तरह से प्राचीनकाल से ही रोध एवं संतुलन का विधान हमारे यहां था। शासन को समाज व राष्ट्र के अनेक साधनों में से एक माना गया। समाज का नेता राजा नहीं, लंगोटी वाला है, यह बात मानी गई। इतना होते हुए भी उसमें तरह-तरह के संतुलन (Balances) हैं, तरह-तरह के रोध (Checks) हैं।

फिर यह सोचा गया कि समाज-जीवन स्वायत्त रहेगा, स्वयंशासित रहेगा। मार्क्स ने जिस 'साम्यवाद की उच्चतर स्थिति' की कल्पना की और बाकूनिन ने जिस 'अराजकतावाद की उच्चतर स्थिति की कल्पना की', ऐसा समाज हमारे यहां भी आदर्श माना गया है। लेकिन वह कैसा चलता था, इसके विषय में यहां विचार करना आवश्यक है।

न राज्यं नैव राजाऽसीत्

भीष्म, युधिष्ठिर को बताते हैं कि एक समय ऐसा था जब राज्य जैसी कोई संस्था नहीं थी। 'न राज्यं नैव राज़ाऽसीद् न दण्ड्यो नच दाण्डिकः' अर्थात् राज्य नहीं था, राज्याधिकारी नहीं थे। दण्डनीय तथा दण्डकर्त्ता दोनों नहीं थे (There was neither state nor state officials. There was no one who could be punished and no one who was authorised to punish) मतलब यह है कि जेल नहीं थी। मजिस्ट्रेट नहीं थे। न्यायालय नहीं थे। कुछ नहीं था। 'तेषां नासीद् विधातव्यम्' उस समय कोई विधान भी नहीं बना था। कोई यह नहीं कह सकता था कि तुमने अमुक धारा का उल्लंघन किया है, अतः उच्चतम न्यायालय में चलो। ऐसी कोई बात नहीं थी। 'तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चितं कथं च न'। कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही का

प्रावधान नहीं था। उन्होंने यहां तक कहा कि मृत्यु दण्ड भी नहीं था। 'पुरा धिग्दण्ड एवाऽसीद्, वधदण्डोऽद्य वर्तते' आज वधदण्ड है, उस समय नहीं था। तो क्या था? धिक् दण्ड था। याने जन-धिक्कार ही केवल दण्ड था (Public censure was the only punishment)। लोगों के द्वारा 'धिक्' कहना, बस यही उस समय सबसे बड़ा दण्ड था। लेकिन इस प्रकार शासनविहीनता कैसे चली थी? इस पर उन्होंने कहा कि—

'न राज्यं नैव राजाऽसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वे रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

आधार धर्म का, राज्य का नहीं

धर्म के आधार पर सब एक दूसरे की रक्षा करते थे, एक दूसरे को लेकर चलते थे। धर्म आधार था, राज्य नहीं। हिन्दुओं की विशेषता यह है कि इस समाज की धारणा धर्म के आधार पर है, सरकार के आधार पर नहीं। सरकार धर्म के विभिन्न साधनों में से एक साधन हो सकती है। अतः उसके आधार पर समाज की धारणा नहीं होती है।

धर्म का अर्थ क्या है? इसका बहुत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। समाज की धारणा करने वाले विधान को धर्म कहा गया है। इस प्रकार धर्म के आधार पर हमारे यहां शासन-विहीन समाज था।

न्यूनतम शासित समाज

समाज फिर से निर्माण करना हो तो कौन-सा आधार लिया जा सकता है। इसका विचार हमारे यहां है। यह आधार है धर्म। हमारे यहां इसी को सर्वोच्च माना गया है। धर्म को सर्वोच्च मानने के कारण हमारे यहां कभी शासनविहीन समाज रह सका है। बाद में भी कभी हो सकता है। पश्चिमी देशों में शासनविहीनता आ नहीं सकती। अधिनायकवाद के द्वारा

शासनविहीन समाज कैसे आयेगा ? धर्म के अभाव में वहां तो मात्स्य-न्याय आ जावेगा। बड़ी मछली छोटी मछली को खा डालेगी।

राजनीति : धर्म का साधन

हमने देखा कि पश्चिम के विचारकों के मन में 'शासन-विहीनता आनी चाहिए' ऐसा विचार तो है, किन्तु शासन-विहीनता लाने के लिये उन्होंने कोई आधार नहीं रखा। इसलिये उनके यहां अभी तक यह आ नहीं सकी। हमारे यहां इसको 'धर्म' का आधार दिया गया है और यह सबसे बड़ा प्रबल आधार है। यहां तक कि हमारे यहां राजनीति में लगे हुए लोग भी, राजनीति को धर्म का एक साधन समझकर, काम करते थे, ऐसा इतिहास में दिखाई देता है। इसके कारण कुछ ऐसे विचित्र वक्तव्य (Statements) हम इतिहास में पढ़ते हैं कि जिनका हमें पता ही नहीं लगता कि इस तरह कैसे बोला होगा ? क्या बोलने वाले वस्तुतः होश में थे ? ऐसे कई उदाहरण अपने यहां आते हैं।

राज्यत्व श्री शम्भू ने दिया है

छत्रपति शिवाजी चन्द्रराव मोरे को, जो बीजापुर के बादशाह का सरदार था, अपने पक्ष में लाना चाहते थे। शिवाजी ने उनको पत्र लिखे। चन्द्रराव मोरे ऐसा समझते थे कि उनका खानदान बड़ा है। शिवाजी ने उनको कहा कि तुम भी इस स्वराज्य के प्रयास में कंधे से कन्धा लगाकर खड़े हो जाओ। चन्द्रराव ने कहा कि तुम कौन हो, हम तो श्रेष्ठ हैं। हमको तो राजा की पदवी बादशाह ने मेहरबान होकर दी है। शिवाजी को किसी बादशाह ने उपाधि दी नहीं थी, क्योंकि ये कोई राज्याश्रय पर पलने वाले सरदार नहीं थे। तो शिवा जी ने उत्तर दिया था "तुम्हें राजा की उपाधि बादशाह ने दी होगी। हमें तो यह राज्यत्व श्री शंभु ने दिया है।" यह पागलपन ही है। कौन है वह श्री शम्भू ? किसने उसको देखा है ? उन्होंने राज्य दिया तो कैसे दिया ? कब दिया ? कब देने के लिए

आये थे ? देने की क्या पद्धति थी ? उसकी लिखा-पढ़ी क्या है ? लेकिन शिवाजी ने यह कहा कि यह राज्य हमें श्री शंम्भू ने दिया है।

'हिंदवी स्वराज्य हो-यह भगवती की इच्छा'

अपने एक दूसरे साथी को पत्र लिखते हुए शिवाजी कहते हैं कि "हिन्दवी स्वराज्य होना चाहिए, ऐसी भगवती की बहुत इच्छा है।" वे यह नहीं कहते कि मेरी इच्छा है। यह भी नहीं कहते कि भोंसले कुल की इच्छा है। यह नहीं कहते कि हमारे प्रान्त की इच्छा है। कहते यह हैं कि भगवती की इच्छा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि भगवती ने कब इच्छा व्यक्त की और इनको कैसे पता चला ? और हमारी राजनीति में क्या होना चाहिए, इससे भगवती का क्या सम्बन्ध ? लेकिन शिवाजी का कहना है कि भगवती की ऐसी इच्छा है कि हिन्दवी स्वराज्य होना चाहिए। हम लोग जानते हैं कि जितना भी उनका प्रयास हुआ, वह सारा धर्म का आधार लेकर हुआ। इसी कारण राज्य संचालन की बातों में व्यक्तिगत आसक्ति हमारे यहां के किसी भी श्रेष्ठ पुरुष में नहीं दिखाई देती। व्यक्तिगत आसक्तिवाली कोई बात है भी नहीं। ये तो कुछ उदाहरण हैं। ऐसे अनेकानेक उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है।

राज्य-क्रान्ति की फलश्रुति

जब शिवाजी ने कुछ यश प्राप्त किया, उस समय उनके गुरु समर्थ रामदास ने संतोष प्रकट किया। किन शब्दों में संतोष प्रकट किया, यह आज हमारे ख्याल में भी नहीं आ सकता। वास्तव में सीधी-सादी बात थी कि औरंगजेब का राज्य हट गया। मेरा राज्य आ गया। किन्तु रामदास जी ने ऐसा नहीं कहा। उनकी शब्द-रचना बहुत अच्छी है। यह नहीं कहा कि मेरे विरोधी दल वाला नष्ट हुआ है। बल्कि यह कहा कि "पापी औरंगजेब नष्ट हुआ है। अभक्तों का क्षय हुआ है। अधर्म नष्ट हुआ है। धर्म की स्थापना हुई है।" और फिर यह कहा कि "त्रिखंड में सेनाएं चारों ओर

संचार कर रही है।" किसकी ? हरिभक्तों की सेनाएं—यह नहीं कहा कि मेरी पार्टी वाले त्रिखंड में जा रहे हैं। उन्होंने इस सारी राज्य-क्रान्ति की फल-श्रुति क्या बतायी ? यह बताई कि "अब स्नान संध्या करने के लिए विपुल पानी प्राप्त हो गया है।"

यह कोई मतलब की बात नहीं। आप यह कहते कि यश प्राप्त हुआ। पद या महत्व प्राप्त हुआ। किन्तु हम यह बता रहे हैं कि सारी राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप स्नान-संध्या के लिए पानी मिल गया। यह काम करने वाले शिवाजी और आशीर्वाद देने वाले रामदास दोनों की भूमिका यही थी। और मैं यह बताना चाहता हूं कि हमारे संपूर्ण इतिहास में यही भावना रही है।

पश्चिमी आदर्शः और हिन्दू मार्ग

इस भावना की प्रतिष्ठापना यदि समाज में है तो शासन-विहीनता की ओर जाने में अधिक दिक्कत नहीं। लेकिन जहां अधिकनायकवाद है, 'सब कुछ राज्य के लिये, सब कुछ राज्य के अन्तर्गत, राज्य के बाहर कुछ नहीं' यह भावना जहां है, वहां राज्य की परिसमाप्ति की कल्पना नहीं आ सकती। पश्चिम के कुछ आदर्श अच्छे हैं, तो उनको वे चरितार्थ नहीं कर पा रहे हैं। किन्तु हमारी प्राचीन परम्परा में उनको चरितार्थ किया गया था।

हम ही भाग्यविधाता

अब अपने को पुनः राष्ट्र निर्माण करने का अवसर मिला है। खंण्डित भारत का ही क्यों न हो, किन्तु राज्य अब अपने हाथ में आ गया है। हम स्वयं ही अपने भाग्य-विधाता हो सकते हैं। तो अब यहां कैसी रचना की जाय, यह प्रश्न हमारे सामने है।

माडल उपलब्ध नहीं

यदि किसी का माडल (ढांचा) देखकर हम अपनी रचना कर सकते

हैं तो काम बड़ा ग्रासान हो जाता है। ग्रब माडल के लिये ग्राज के नम्बर एक ग्रौर नम्बर दो के राष्ट्रों का विचार हमने किया। दुःख की बात यह है कि वे ग्राकाश में चन्द्रमा पर तो जा पहुंचे हैं, लेकिन ग्रपने विश्वविद्यालयों में ग्रसंतोष के विद्रोह को वे नहीं रोक सके, लोगों का हिप्पी बनना नहीं रोक सके। साम्यवाद एवं ग्रराजकतावाद का भी हमने विचार किया। लेकिन संतोष वहां भी दिखाई नहीं देता। ग्रपने सिद्धान्त से पीछे ग्रौर ग्रधिक पीछे ही हटने की प्रवृत्ति हम वहां भी देख रहे हैं। ग्रतः यह स्पष्ट है कि ग्रपने लिये कोई तैयार माडल हमारे सामने उपस्थित नहीं हो सकता।

गिरावट का कारण

पश्चिम के 'प्रगतिशील' लोगों ने जो कुछ ग्रादर्श ग्रपने सामने रखे, उनको वे चरितार्थ नहीं कर सके। किन्तु उनको चरितार्थ करके दिखाने का काम हमारे समाज ने कभी किया है, यह भी हम देख सकते हैं। ग्रौर इसके कारण हमारे मन में एक संदेह निर्माण हो सकता है कि हमारी जो गिरावट है वह हमारी परम्परा, धर्म, संस्कृति के कारण है या उनको छोड़ने के कारण है ? हमारे ग्रन्दर कुछ विकृतियां ग्रा गईं। विकृतियां ग्राने का खास कारण रहा। हम सब जानते हैं कि बारह सौ वर्ष तक हम युद्ध-स्थिति में थे। विदेशी ग्राक्रमणों के विरुद्ध सम्पूर्ण देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक निरन्तर हम युद्धरत रहे। युद्ध-काल में वे सभी बातें नहीं हो सकतीं, जो सामान्य शान्तिकाल में होती हैं। इसके कारण समाज में कुछ विकृतियां ग्रा गई हैं। इन विकृतियों के कारण हमारी गिरावट हुयी है। यदि ऐसा है तो विकृतियों को दूर करते हुए, ग्रपनी मूल बात को हृदय में धारण करते हुए, क्या हम ग्रागे नहीं बढ़ सकते ?

पूरा विचार कर निर्णय लें

इस दृष्टि से हमें पूर्ण विचार करना होगा। संसार के सभी वादों

(Isms) का अध्ययन हम करें और अपनी भी संस्कृति परम्परा का चिंतन करें। अध्ययन सभी पद्धतियों का होना चाहिए। किन्तु किसी का भी अंधानुकरण करना हमारे हित में नहीं। सनातन काल से राष्ट्र-रचना का आधार बना हुआ 'धर्म' भी हमारे गहन चिंतन का विषय बने, यह आवश्यक है। इन सब बातों की पृष्ठभूमि पर हम अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के विषय में राष्ट्रीय प्रतिभा के आधार पर निर्णय लें, यह उचित होगा।

●

जयपुर में दि० २७-१२-१९७२ को विधिवेत्ताओं के सम्मेलन में श्री दत्तोपंत जी ठेंगड़ी द्वारा दिया गया भाषण।

प्रकाशक :
सुरुचि साहित्य
झण्डेवाला, नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण :
जुलाई, १९७३

मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :
नवचेतन प्रेस (प्रा०) लि०
(लीजिज ऑफ अर्जुन प्रेस)
नया बाजार, दिल्ली-११०००६

12|1972

जयपुर